5-2

कमलाकान्त वर्मा

उत्तर प्रदेश के पूर्वी अञ्चल, बलिया जिले, के एक छोटे-सी गाँव भरौली में १९१२ में कमलाकान्त वर्मा का जन्म हुआ था। प्राय: बचपन से ही गाँव से बाहर रहने के कारण वर्माजी का अपने ग्रामवासियों से, और विशेषत: उनकी नई पौध से, परिचय कम रहा है। किन्तु यह गाँव एक प्रवासी साहित्यसेवी के रूप में उन्हें स्मरण करता रहा है और इस गाँव की यह छोटी-सी संस्था—शिक्षा संवर्धिनी सभा—उनके इस नव-लिखित नाटक 'मेघदूत' को सहर्ष प्रकाशित कर रही है।

शिक्षा संवर्धिनी सभा एक रजिस्टर्ड संस्था है और अपने तत्त्वावधान में इस गाँव में एक छोटे स्कूल तथा एक पुस्तकालय का सञ्चालन कर रही है। पुस्तक-प्रकाशन के क्षेत्र में सभा ने इसी नाटकको लेकर प्रवेश किया है।

उत्तर प्रदेश के इस पूर्वी अञ्चल ने अनेक साहित्यसेवियों को जन्म दिया है, जो भारत के विविध भागों में रह कर विविध विधियों से साहित्य-सेवा कर रहे हैं। सभा आशा करती है कि उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियों का प्रकाशन करके वह अपने नामको अधिक सार्थक बना सकेगी।

—तारकेश्वर द्विवेदी

আচার্য্য ডাঃ বাগচীকে
সাদরে
কমলাকান্ত বর্মা

25. 4. 69.

मेघदूत

परिचय : डा० कामिल बुल्के

प्रस्तावना : प्रो० कल्याणमल लोढा



कमलाकान्त वर्मा

प्रथम संस्करण : वसन्त पञ्चमी सं० २०२५ (१९६९ ई०)

प्रकाशक : शिक्षा संवर्धिनी सभा,
ग्राम—भरौली,
जिला—बलिया,
उत्तर प्रदेश

पुस्तक-प्राप्तिस्थान :
फ्लैट—ई-१०,
३१, मदन चटर्जी लेन
कलकत्ता-७

मुद्रक : शेखर प्रिंटिंग वर्क्स,
४/१, जरीफ लेन,
कलकत्ता-६

मूल्य : ५·५०

स्वर्गीया सूर्यमुखी को

परिचय

प्रस्तुत नाटक में एक पात्र का कहना है कि "प्रत्येक काव्य किसी-न-किसी रूप में कवि की अपनी ही कथा हुआ करता है।" (पृ० ४५) इसी के अनुसार नाटककार ने 'मेघदूत' काव्य की विषय-वस्तु का सम्बन्ध उसके रचयिता कालिदास के जीवन के साथ जोड़ दिया है, और कालिदास को विरही यक्ष के रूप में देखा है। इसके अतिरिक्त किंवदंतियों के आधार पर कालिदास की पत्नी दर्शन-शास्त्र की विदुषी राजकुमारी विद्या को माना गया है।

कालिदास की रचनाओं का क्रम निर्धारित करना असंभव-सा प्रतीत होता है। अतः इस नाटक में जो क्रम रखा गया है, वह इतिहास-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता है। नाटककार ने माना है कि मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, तथा शकुन्तला के बाद ही मेघदूत की रचना हुई थी और अन्त में रघुवंश तथा कुमारसम्भव। किन साहित्यिक अन्तर्द्वन्द्वों के फलस्वरूप कालिदास ने इन दो महाकाव्यों की सृष्टि की थी यह प्रस्तुत नाटक का विषय है। रामगिरि के

आश्रम में विरही कालिदास के सामने मालविका, उर्वशी, शकुन्तला और मेघ मूर्त रूप में प्रकट होकर उनकी भर्त्सना करते हैं और कला के उदात्तीकरण के लिए उनको प्रेरणा देते हैं, जिससे वह "कुकवि से सुकवि बनें" (पृ० २६)

नाटक की भाषा अत्यन्त काव्यमय ही है किन्तु कल्पनाप्रधान विषय को दृष्टि में रखकर यह अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता है।

समालोचक प्रस्तुत नाटक का विषय आधुनिकतम साहित्यिक रुचियों की चुनौती के रूप में देखेंगे ; आशा है वे नाटककार को यह आश्वासन भी देना चाहेंगे कि उनकी विचारधारा भारत के प्राचीन काव्यशास्त्रियों के अनुरूप ही है। तुलसीदास के शब्दों में—

कीरति भनिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई॥

मानरेसा हाउस
पो० बॉ० २
राँची—१

कामिल बुल्के

प्रस्तावना

प्रिय भाई वर्माजी,

मैंने आपका 'मेघदूत' नाटक दो बार पढ़ डाला। शताब्दियों के दीर्घ व्यवधान को चीर कर, पढ़ते समय, कालिदास का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अपनी समस्त अन्तर्वाह्य सर्जनात्मक संवेदना के साथ स्मृति में सजीव हो उठा। सोचता हूँ, जब पढ़ते समय ही आपका नाटक इतना सजीव और साकार लगा, तब रंगमंच पर तो वह कालिदास को ही साक्षात् और प्रत्यक्ष कर देगा। इस नाटकीय सफलता और प्रभविष्णुता के लिए मेरी हार्दिक बधाइयाँ स्वीकार करें।

कालिदास के अनुगामी परवर्ती नाटककारों और कवियों को जितना प्रिय उनका काव्य लगा, उससे कम प्रिय उनका व्यक्तित्व नहीं। आषाढ़ के प्रथम दिवस पर मन्द्र मेघ स्वर के साथ, 'मेघदूत' का मन्दाक्रान्ता पाठकों को यह सोचने पर विवश करता है कि कवि के जीवन में भी निश्चय ही कोई ऐसी विरह-वेदना रही होगी, जो घनराजिकाओं की उमड़-घुमड़ के साथ उसकी घनीभूत पीड़ा को उन्मथित कर आर्द्र कर देती थी। नागार्जुन की पंक्तियाँ मुझे याद आ रही है:

कालिदास, सच-सच बतलाना,
पर - पीड़ा से पूर-पूर हो,
थक-थक कर औ' चूर-चूर हो
अमल धवल गिरि के शिखरों पर
प्रियवर, तुम कब तक सोये थे?
रोया यक्ष कि तुम रोये थे?

कालिदास का जीवन आधुनिक कवियों और नाटककारों को भी क्यों इतना प्रिय है? क्यों कलिदास पर लिखते समय आधुनिक नाटककार 'मेघदूत' का ही सहारा लेकर अपनी रचना का प्रारम्भ करते हैं। रवीन्द्र हों या 'प्रसाद', लक्ष्मीनारायण मिश्र हों या उदयशंकर भट्ट, मोहन राकेश हों या कमलाकांत वर्मा—आषाढ़ का वह एक दिन क्यों आज भी अपनी समस्त उदात्त कल्पना के साथ कालिदास के जीवन और व्यक्तित्व से जुड़ गया है और लगता है कि वह दिन केवल कल्पना का नहीं, वस्तुतः कालिदास के जीवन के भोगे हुए यथार्थ का दिन था, जिसके माध्यम से उन्होंने स्वर्ग और पृथ्वी को एकसूत्र में बाँध दिया। रवीन्दनाथ ने तो स्पष्ट लिखा:

छिन्न करि कालेर वन्धन
सेइ दिन झरे पड़े छिल अविरल
चिर दिवसेर येन रुद्ध अश्रुजल
आर्द्र करि तोमार उदार श्लोक राशि।

(मेघदूत)

व्यक्तिनिष्ठ इतिहास-क्षण जब देश-काल-निरवच्छिन्न होकर व्यापक मानवीय क्षण या अनुभूति में परिणत होता है, तभी कलात्मक सृजन की भूमिका अपनी समस्त रागात्मक शक्ति के साथ स्फूर्त होती है। मैं इस ऊर्जा को ही कलाकार को 'सर्जनात्मक चेतना' कहता हूँ। कालिदास का मेघदूत ही नहीं, उनका समस्त साहित्य इसी सर्जनात्मक चेतना का प्रमाण है—देश और काल की सीमा में बँधे इतिहास-क्षण को मानवीय क्षण में व्याप्त करने का संकल्प। आपने अपने 'मेघदूत' नाटक में भी उनकी इसी ऊर्जा और चेतना को मूर्त रूप दिया है और यही मेरी दृष्टि में इस नाटक की सर्वाधिक सफलता है। सूत्रधार के शब्दों में :

यह नाटक
×
लघु एक कल्पना
कभी किसी कवि के उर में
कवि-कान्ता-प्रेरित
आन्दोलायमान
सुन्दर से सुन्दरतर के द्वन्द्वों की,
यह
एक पुरातन स्वप्न देखता
नर-नारी की प्रेम-तपस्याओं का
प्रेम-राग के मधुर विवादों का,
मृदु सम्वादों का····

मानसिक द्वन्द्वों की इस भूमिका पर अधिष्ठित "मेघदूत" नाटक में आद्योपान्त त्रासदी को गौरव-गरिमा विद्यमान है! मनुष्य अपने खंडित अस्तित्व की अपूर्णता के मध्य जीवन की समग्रता का बोध चाहता है—चाहता है अपने अस्तित्व की संपूर्णता। यह 'चाहना' ही हीगेल के शब्दों में उसके दुःखद संघर्ष—Tragic Conflict—का हेतु बनता है। सफल त्रासदी का अन्त इसीलिए प्राकृतिक या सामाजिक—किसी प्रकार की—जड़ शान्ति में न हो कर, मानवीय संघर्ष की विपुलता के चरम बोध में ही विद्यमान है, जिसमें जीवन का रहस्य-

विधान भी ऊपरी और कृत्रिम न होकर अपने मूलभूत आवेगों, संवेगों और अनुभूय क्षणों में स्थित रहता है। आपकी राजकुमारी विद्या इसी को लक्ष्य कर कहती है, "कौन-सा पुराण है जो यह नहीं बताता कि पुरुष का स्वभाव है परिवर्तनों से खेलते रहना ? कौन-सा इतिहास है जो यह नहीं कहता कि स्त्री का स्वधर्म है परम्परा को बचाये रखना। जो कठोर न हो वह परिवर्तन क्या ? जो सहन न कर सके वह परंपरा कैसी ? जो असंभव की माँग न करे वह पुरुष क्या हुआ ? जो संभव से अधिक न दे सकी वह स्त्री क्यों कर बनी ?" ऐसी रचनाओं में पात्र जीवन के 'निष्कर्ष' की अंतिम सीमा पर पहुँच कर 'उपलब्धि' के संतोष से समाप्त नहीं होते, उनकी अदम्य आकांक्षा उन्हें अन्त तक मृण्मय ही रखती है—चिन्मय नहीं बनने देती। इसी में त्रासदी की प्रभविष्णुता भी अन्तर्निहित है। कालिदास के विभिन्न पात्र (और प्रारम्भ में मेघ भी) इसीलिए उसे आकर सचेत और उद्बुद्ध करते हुए कहते हैं कि वे अब भी 'अधूरे' हैं, उनका निर्माण अपूर्ण है। मालविका हो चाहे उर्वशी, शकुन्तला हो या कवि की परिणीता विद्या, सभी एक स्वर में यही कहते हैं :

नहीं
मुझे पहचान नहीं पाओगे,
कवि,
मैं हूँ
अतीत में खोई
एक भविष्यत् नारी
वर्तमान में
सार्थक जीवन का पथ
खोज रही हूँ,
जिज्ञासा का
निष्ठामय लघु दीप जलाकर।

और खोज की सार्थकता यही है, वह कभी भी उपलब्धि की निरर्थकता नहीं बनती। अपनी लघुता और संकुचित सीमा के मध्य मनुष्य अपरिमेय शक्ति का अजस्त्र स्रोत है—पूर्णता की अदम्य आकांक्षा। इसी का वर्णन करते हुए रिचार्ड जर्बर ने (यूरोपियन फॅटेसी में) कहा है कि 'वैयक्तिक हो चाहे सामाजिक, यह सतत मानवीय चेतना, अर्थात् पूर्णता की अदम्य आंकाक्षा, ही हमारे यथार्थ का चरम बोध और मूल्यों का प्रतिमान है'—आपका 'मेघदूत' भी इसी का प्रमाण है।

आज नाटक में कथा का उतना महत्त्व नहीं है, जितना चरित्र का। चारित्रिक विधान ही नाटकीय श्रेष्ठता और सफलता का प्रमाण है। पात्रों के द्वारा नाटककार हमारे मनोवेगों को उद्बुद्ध और उद्दीप्त करता हुआ जीवन की अतल गहराइयाँ छूता है। नाटक के कलात्मक सौन्दर्य-बोध में आज नाटकीय चरित्र 'साधन' नहीं 'साध्य' हैं। जे० एल० सात्वान के शब्दों में 'नाटक में चरित्र अपने रचनाकार का 'कच्चा-माल' न होकर, प्रस्तुति हैं—वे नाटक से अनुस्यूत होते हैं, उसमें रखे नहीं जाते,(एलीमेंट्स ऑफ ड्रामा)। चारित्रिक चित्रण की यही विशेषता पाठक या दर्शक के हृदय पर एक ऐसी विशिष्ट प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है कि वह रंगमंच या नाटक के सजीव पात्र से परे अपने मानसिक जगत में उसी का 'एक और प्रतीक प्रतिरूप' (Symbolic form) पाता है, जो प्रभाव की दृष्टि से अमिट और अनुभूति के धरातल पर बहुत गहरा होता है। 'स्कंदगुप्त' (प्रसाद) के मातृगुप्त और "गरुड़-ध्वज" (लक्ष्मी नारायण मिश्र) के कालिदास से भिन्न "आषाढ़ का एक दिन" (मोहन राकेश) और आपके 'मेघदूध' के कालिदास हैं—यह विभिन्नता कालिदास के चारित्रिक विन्यास में ही परिलक्षित है। मातृगुप्त कथा का केवल पात्र बन कर रह जाता है—वह जीवन की विशिष्टताका प्रतीक या बोध नहीं, जो पाठक या सामाजिक के हृदय पर अपना 'एक और प्रतीक-प्रतिरूप' भी प्रस्तुत कर सके। शेक्सपियर के चरित्रों की विशेषता बताते हुए विल्सन नाइट ने कहा है: "ये व्यक्ति अन्ततोगत्वा रक्त-मांस के मानव कदापि नहीं हैं, ये तो एक काव्य-कल्पना के निकटतम प्रतीक-मात्र हैं"—"The persons ultimately are not human at all but are closely symbolic of a poetic vision."

'मेघदूत' नाटक में भी अपने यही किया। आपका कालिदास केवल एक प्रशासक, एक पति, एक प्रेमी, या कवि नहीं है—न वह इन सबका एक रासायनिक मिश्रण है, उसकी विशिष्टता उसकी जिजीविषा में है—उसकी सिसृक्षा में। इसी से अंत में वह अपनी यात्रा को 'महाकाव्य नहीं तो महाप्रयाण' कहता है और कहता है राजनटी से 'क्यों का उत्तर यह है कि एक नये जीवन-दर्शन, नये काव्य-सर्जन के लिए मुझे जाना ही चाहिए, उज्जयिनी से, यहां की सारी स्मृतियों से दूर, बहुत दूर।" मेघ की प्रेरणा चरितार्थ करने के लिए वह जीवन के व्यापक धरातल पर अपना काव्य प्रतिष्ठित करना चाहता है, अब केवल यौवन की आकांक्षा, और विरह-वेदना की अभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहना चाहता। वह इसी से सम्राट से कहता है,—"मुझे तो राजकुमारी से अपने पथ के लिए निर्धूम अग्नि, आश्वस्त प्रेम का पाथेय मांगना है, जो वे ही दे सकती हैं, उन्हें देना ही होगा।' राजनटी के शब्दों में 'विरह का गायक अब

बिरह का नायक' बन कर चला जाता है। कालिदास ही क्यों, राजकुमारी विद्या और राजनटी भी जीवन की इसी विशिष्टता के प्रमाण हैं। वे भी पात्र केवल पात्र न रहकर अंत में प्रतीक बन जाते हैं, 'अतीत में खोई एक भविष्यत् नारी का'। इसी से प्रयाण के समय राजकुमारी न उन्हें रोकती है और न विदा देती है, केवल यही कहकर संतोष करती है कि 'उनकी कविता तो है मूर्तनारी नहीं, अमूर्त नारीत्व।' यह सर्व-विदित है कि कालिदास ने रघुवंश की रचना सबसे पीछे की थी और आपने इसी महाकाव्य की प्रेरणा का स्रोत कालिदास के प्रयाण में खोजा है, जो ही राजकुमारी के शब्दों में ऐसा तप है जो राम-जानकी और शंकर-पार्वती की कथाएँ कह सकता है।

त्रासदी तत्त्व और चारित्रिक विधान की विशिष्ठता के साथ मुझे 'मेघदूत' नाटक की भाषा भी नाटकीय प्रयोजन के अनुकूल लगी। मैं इतिहास की धूमिल छाया में पड़ कर, उनके जीवन को 'वस्तु-स्थिति' की रेखाओं में बाँधना नहीं चाहता। उन्होने देवी की आराधना कर वरदान प्राप्त किया या नहीं—नहीं जानता, और न कह सकता हूँ कि कौन उनकी पत्नी थी और कौन प्रेयसि। पर इतना निश्चय है कि उन्होंने कविता लिखी ही नहीं, कवि का जीवन भी जिया। उनका जीवन भी काव्य ही था—एक 'विजन'। उनका जीवन भी प्रेम की उज्जवल भाव-भूमि से पुष्ट रहा होगा, तभी उन्हों ने उसे आकांक्षा या अधिकार की संज्ञा न देकर, जीवन की समग्रता और मानवीय संवेदना की उच्चतम चेतना पर अधिष्ठित किया जो मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में 'संयोगसे प्रारंभ होकर वियोग झेलता हुवा योग में परिणत हो जाता है।' कालिदास की यह प्रेम-भावना केवल "प्लेटोनिक लव' नहीं है—अपितु वह ऐसे जीवन-दर्शन की संपुष्टि और प्रस्तुति है, जिसने शताब्दियों तक परवर्ती पीढियों को प्रभावित और प्रेरित किया। उनका विरह 'यत्रतु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलंभोऽसो" [१] न होकर, वासना का शोधन और परिष्करण है, जो नर और नारी के संबन्ध को शाश्वत करता हुआ, उन्हें एक दूसरे का पूरक बनाता है, उन्हें समष्टि-चेतना की ओर उन्मुख करता हैं।

मेघदूत और कुमारसंभव या रघुवंश की मानसिक भूमिका में यही मूलभूत अन्तर है। प्रेम वह उपलब्धि है, जिसे धैर्य, सहिष्णुता और त्याग द्वारा प्राप्त किया जाता है। इसी से संसार की महान प्रेम-कथाएँ निष्ठाशील प्रेम की

---

१ (जहाँ नायक-नायिका का प्रेम अत्यन्त प्रगाढ होकर भी किसी कारण वश मिलन में परिणत नहीं हो पाता, उसे ही विप्रलम्भ शृंगार कहते हैं—साहित्य दर्पण)

ही कथाएँ हैं। कष्टों और वेदनाओं में भी इस निष्ठा को बनाये रखना ही वह वस्तु है, जिससे जीवन की सर्जनात्मक चेतना अपनी अशेष शक्ति के साथ मानसिक ऊर्जा और सम्पन्नता प्राप्त करती है। इसी से सत्यभामा कहती है "सुखं सुखे नेह न जातु लभ्यं दुःखेन साध्वी लभते सुखानि।"[२] कालिदास ने अपने काव्य में यही दिखाया है कि किस प्रकार दो प्रेमी आत्माएँ कष्ट द्वारा रूप धारण करती हैं और एक दूसरे के अनुकूल ढलती हैं। "देवता भी विचित्र हैं। हम में जो अच्छा, उदात्त, मानवोचित और प्रेममय अंश है, उसी के द्वारा वे हमें कष्टों में ला पटकते हैं और कसौटी पर कस कर महान कार्यों के उपयुक्त बनाते हैं।"[३] इसी से कालिदास के पात्र विशेषतः नारी-चरित्र, विवाह और प्रेम को आत्म-पूर्णता का साधन मानते हैं या वेदविद् ब्राह्मण के अनुसार 'जो पति है वही पत्नी भी'। दोनों ही अर्धनारीश्वर की भाँति अपनी पृथक्ता के भीतर, अपूर्णता में एकात्मता और पूर्णता प्राप्त करते हैं। आपने भी 'मेघदूत' में राजकुमारी विद्या और राजनटी के चरित्रों द्वारा यही सत्य उद्घाटित किया है, कालिदास को संबोधन करती हुई राजकुमारी विद्या की आकृति में 'तरुणी' इसी पथ का संकेत करती है :

प्रेयस्, से श्रेयस्, का
रस से तप का,
होता हो जिनसे जन्म
पराक्रम का, प्रज्ञा का,
ऐसा पथ......

यह प्रेम लोक का पथ है और कालिदास इसी पथ का सन्धान करने चले जाते हैं। उनका संकल्प स्पष्ट और दृढ़ है। विदा के क्षणों में वे कहते हैं "कालिदास इस बीच दूसरा नाटक लिखने नहीं जा रहा है। इस यात्रा का अर्थ है या तो महाकाव्य नहीं तो महाप्रयाण"। मेघ की प्रेरणा मूर्त होती है। वह अब समझ पाये हैं कि उन्हें अभी तक के अपने सारे काव्य से और उसके सभी चरित्रों से दूर हट कर किसी दूसरी ही दिशा में जाना पड़ेगा। उनके पात्र ही उनसे असंतुष्ट हैं। वे जीवन की विशालता और व्यापकता के सार्थवाह बनना चाहते हैं—केवल यौवन के कोमल पर क्षणिक अभिव्यक्ति का स्वर नहीं। राजकुमारी विद्या ही उनके इस स्वप्न को सत्य करती है जिसमें राजनटी उनकी सहयोगिनी है प्रतिद्वन्द्विनी नहीं। आपकी राजनटी और मोहन राकेश की

---

२ जब सुख से सुख प्राप्त नहीं होता तब साध्वी स्त्री दुख से ही सुख की उपलब्धि करती है—वनपर्व, महाभारत—२३३—४)

३ (डा० राधाकृष्णन्—धर्म और समाज)

मल्लिका में यह एक मूलभूत चारित्रिक अन्तर है। इसी से मैं कहता हूँ कि आपके सभी चरित्र कालिदास के कर्तृत्व के अनुरूप हैं, उसीकी सिद्धि।

मैंने एक और बात आपके 'मेघदूत' में पाई, जिसका सम्बन्ध नाटक के रूप-विधान और नाट्य-कला से है। आपने जो शैली अपनाई है, वह भी 'नाटकीय' है। नाटक के कथा-नियोजन और विकास में बहुधा आशंका रहती है कि वह कहीं 'अभिनेय उपन्यास' न बन जाये—बँधी-बँधाई परम्परा के भीतर नाटक की कथा-संघटना करनेवाले नाटककारों की कृतियाँ इसी से अपेक्षाकृत औपन्यासिक अधिक हो जाती हैं। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक आप इस दोष से बचे हैं। आपकी नाट्य-शैली आधुनिक होती हुई भी उसके दोषों से मुक्त है। मैं यहाँ पर पाठ्य नाटक और अभिनेय नाटक के विवाद में न पड़कर इतना ही कहना चाहूँगा कि आपका नाटक दोनों ही दृष्टियों से एक सफल कृति है। आज नाट्य-रचना को लेकर अनेक वाद-विवाद चल पड़े हैं। एक ओर विज्ञान चलचित्रों के साथ उससे टक्कर ले रहा है तो दूसरी ओर दर्शक की नाटकीय अभिरुचि का ह्रास हो रहा है। इस समय आवश्यकता है ऐसे नाटकों की जो वैज्ञानिक युग में भी दर्शक की नाटकीय अभिरुचि बढ़ाते हुए, उन्हें यांत्रिक ऊहापोह से दूर, जीवन के अधिक निकट ले जाएं। आपने 'मेघदूत' में यही किया है और इसके लिये मैं आपको पुनः बधाई देता हूँ। राजकुमारी विद्या कहती हैं, "प्रत्येक काव्य किसी न किसी रूप में कवि की अपनी ही कथा हुआ करता है।" आपने भी कालिदास के कवि की ही कथा कही है, और नाटक पढ़ते समय लगता है कि सामने खड़े होकर कालिदास जैसे अपनी ही कथा सुना रहे हों। अनुमति दें कि मैं भी कालिदास के ही शब्दों को दोहराता हुआ अपना वक्तव्य समाप्त करूँ :

प्रवर्तताम् प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहतींमहीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥

अध्यक्ष हिन्दी विभाग,	आपका
कलकत्ता विश्वविद्यालय।	*कल्याणमल लोढ़ा*

(राजा सदा अपनी प्रजा की भलाई में लगे रहें, बड़े-बड़े विद्वान कवियों की वाणी का सब जगह आदर हो और स्वतः उत्पन्न तथा सब जगह अपनी शक्ति से व्याप्त, भगवान शंकर ऐसी कृपा करें कि मुझे अब फिर जन्म लेना न पड़े। —अभिज्ञानशाकुन्तलम्)

दो शब्द

एक लम्बे साहित्यिक मौन के बाद 'पुनश्च' के रूप में लिखे गये इस छोटे-से नाटक के पीछे अनेक मधुर स्मृतियाँ हैं।

वर्षों से प्रसिद्ध नाट्य-निर्देशक श्यामानन्द जालान मुझसे कहते आ रहे हैं कि मैं आधुनिक रंगमञ्च के उपयुक्त एक नाटक लिखने की चेष्टा करूँ। खेद है, इस चेष्टा में मैं अभी तक असफल ही रहा हूँ। किन्तु तब जो कुछ भी मैं लिख सकूँ वह अवश्य लिखूँ, यह स्नेहपूर्ण आग्रह भी मेरे कुछ मित्रों का रहा है। इन मित्रों में प्रमुख रहे हैं चम्पालाल गुप्त, जिन्होंने इस आग्रह में अपना यथेष्ट समय नष्ट कर अन्ततः इसमें थोड़े मित्रोचित रोष का भी सञ्चार किया। जो चम्पालाल को जानते हैं वे यह भी जानते हैं कि उन्हें रुष्ट रख कर शान्ति से नहीं रहा जा सकता। फलतः यह नाटक लिखा गया।

इस नाटक की पाण्डु-लिपि मैंने सर्व-प्रथम पढ़ कर सुनाई गंगाचरण केडिया को। गंगाचरण ऐसी रचनात्मक आलोचना में विश्वास रखते हैं जो कभी-कभी खण्डनात्मक आलोचना से अधिक महँगी पड़ जाती है। उन्होंने इसमें कई ऐसे महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये जिनके कारण मुझे इसके अनेक अंश नये सिरे से दुबारा लिखने पड़े। और इस प्रकार लिखे गये इस नाटक को इसके छपने से पहले सुनने की माँग की मेरे तीन रस-मर्मज्ञ मित्रों—बाबूलाल पचीसिया, पण्डित अक्षय चन्द्र शर्मा और ठाकुर राजबहादुर सिंह 'नसीब'—ने, जिससे इसकी त्रुटियां कुछ तो अवश्य ही घटी हैं। फिर भी जो त्रुटियाँ इसमें रह गई हैं—और वे अनेक हैं—वे मेरे अपने ही रस-बोध और व्यञ्जना-शैली की हैं।

प्राचीन भारतीय वातावरण की प्रतिष्ठा के लिए प्रयुक्त इस नाटक की भाषा कुछ क्लिष्ट-सी हो गई जान पड़ी। इसके समाधान के लिए परिशिष्ट—'ख' के रूप में जो शब्दार्थ-तालिका दी गई है वह प्रशांतकुमार पचीसिया का परिश्रम है। मेरी पुत्री मनोरमा ने एक प्रासंगिक निवन्ध—कालिदास के साहित्य का एक विहगावलोकन (परिशिष्ट-ख) — लिखकर मेरा भार बहुत कुछ हल्का किया।

नाटक के लिखे जा चुकने के बाद प्रश्न उठा इसके प्रकाशन का। इसके लिए शिक्षा सर्वंधिनी सभा (भरौली) के उपाध्यक्ष और मेरे अनुजकल्प तारकेश्वर द्विवेदी ने जो आत्मीयतापूर्ण आग्रह दिखाया उसकी एक अलग ही कहानी है, या यों कहूँ कि वह स्वयम् एक कहानी है।

किन्तु इस नाटक की कहानी यहीं समाप्त नही होती। इस प्रयास की सार्थकता के आत्म-तोष के लिए विद्वत्परितोष की खोज में मैं दो कदम भी नहीं चला था कि दो विद्वानों के आशीर्वचन मुझे यह प्रेरणा देते हुए मिले कि मैं उनके योग्य बनने की चेष्टा करूँ। अपनी विविध व्यस्तताओं के मध्य से डा० कामिल बुल्के और प्रो० कल्याणमल लोढा ने मुझे इस प्रयास के लिए अपने वैचारिक समर्थनों से अनुगृहीत ही नहीं अनुप्राणित भी किया। और मेरे पुराने मित्र भाई राधाकृष्ण ने इस पर अपनी जो सम्मति दी उसे तो मुझे स्नेहोक्ति ही मानना पड़ेगा।

और मैं सोचता हूँ कि इतने स्नेह, सौहार्द और अनुग्रह की छाया में लिखित प्रकाशित और प्रोत्साहित इस नाटक के लिए—यह चाहे जैसा भी हो—मैं कवि कालिदास द्वारा वन्दित "जगतः पितरौ" के अतिरिक्त और किसे धन्यवाद दूँ।

वसन्त पंचमी २०२५
ई १०, ३१ मदन चटर्जी लेन,
कलकत्ता-७

कमलाकान्त वर्मा

सूत्रधार का निवेदन

प्रिय पाठक !
प्रिय दर्शक !
... ...
नूतन रुचि के सम्मुख
विधा पुरातन लिये,
मूर्ति-खण्डन के युग में
मूर्ति-स्थापन-कामी,
वाह्य विप्लवों की इस वेला में
अन्तर्द्वन्द्वों की चर्चा करता,
कवि-मानस की स्वप्निल सृजन-समस्याओं को
बुद्धिवाद-गर्वी के कर्मठ रंग-मञ्च पर
आमंत्रित करने का
साहस करने वाला
यह नाटक
अनेक अर्थों में एक धृष्टता ही है
यह मैं नत-शिर हो
स्वीकार करूँगा।
... ...
किन्तु
काव्य यदि कवि-परिचय भी होता हो तो,
आप नहीं भूले होंगे कि,

वाल-कल्पना है यह
जिस विशालता की
वह भी—
प्रख्यात पुरातन कवि-गणना-प्रसंग में
कनिष्ठिकाधिष्ठित होकर
अनामिका को अर्थवती करने वाले
उपमाओं के अनुपम धनी
महाकवि कालिदास भी—
अपनी काव्य-दृष्टि में
अपनी कथा-सृष्टि में
किसी प्रथा के प्रति,
परम्परा के प्रति,
युग के प्रति,
रुचि के प्रति,
किसी देव-देवी या नर-नारी की
किसी मूर्ति के प्रति
सर्वथा विनम्र नहीं थे।
... ...
फिर भी
जब तक विद्वानों को तोष नहीं हो
आत्म-तोष कवि का तब तक आधार-हीन रहता है
'आ परितोषाद्विदुषां
न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्'—
यह काव्यांकन की
कठिन मान्यता
कालिदास की ही थी,
अतः
आज विद्वत्परितोष-विचारालय में
अपना यह विनीत नाट्य-प्रयास
सबके अवलोकनार्थ
सादर रखता हूँ,
यह आशा लेकर कि
अन्ततः

कलाविदों के,
रस-मर्मज्ञों के,
रंगाचार्यों के,
नाट्य-शास्त्रियों के
बहु-मत से
सप्रमाण तर्कों से
यदि यह कृति 'असाधु' ही सिद्ध हुई,
तो भी सम्भव है
क्वचित्
कदाचित्
किसी एक भी कलाकार को—
जिसे कला-उपवन से बाल्य-प्रेम हो,
जिसे वेदना बालकवत् होती हो
उस उपवन में
अशुभ अशोभन के दर्शन से—
भूले-भटके
इस प्रयास में
सहचर-प्रेम, समान वेदना के
दो कण मिल जायें।
... .
प्रियवर !
....
मैं अपने को
रसाधिकारी कलाकार गिनने की
गुरु प्रगल्भता नहीं करूँगा;
किन्तु कहूँगा यह कि
कला-उपवन में
रस की प्यास लिये
जब
कभी-कभी मैं घड़ी-दो-घड़ी
इधर-उधर घूमा हूँ
तब
उसके नाना द्वारों पर

उसकी विविध वीथियों पर
पाया है मैंने
कलाकारिता का ही नाम और आश्रय ले
कलानुरागी हाथों से ही
बड़े यत्न से
भाँति-भाँति के
मृत्युवाद के रंग-विरंगे
मानवताघाती विष-वृक्ष उगाये जाते,
सत्समारोह
घृणा की
कटुता की
कामुकता की
कुत्सा की
मदिर प्रेरणाओं की
कुल्याएँ सरिताएँ खोदी जाती;
और,
सत्य तो यह है,
कई बार
इसके विरोध की अपनी अक्षमता पर
मुझे खीझ आई है, ...
कष्ट हुआ है।
... .
अस्तु,
विकलता एक कला-विहीन की
सम्बोधन बन निकली है यह कलाकार को—
आज जबकि
जीवन में
एवम् जीवन की सब कलानुकृतियों में
छा रहा तुमुल संघर्ष
असुन्दर से हो रहे असुन्दरतर का
और आज जब
श्रद्धाओं का चीर-हरण,
विश्वासों का पद-मर्दन,

मानव-आत्मा में
आसीन देवता का प्रहसन,
उसका प्रत्येक इन्द्रिय-द्वार रोक कर
खड़े असुर का उद्‌बोधन—
जब ये ही बनते चले जा रहे हैं
अधिकाधिक
कला और जीवन के
मान्य लक्ष्य
रुचिकर प्रमोद
नूतन प्रयोग
युग-बोध और आस्वादन
तब
यह नाटक
करता है स्पर्द्धा
सविनय प्रस्तुत करने की
लघु एक कल्पना
कभी किसी कवि के उर में
कवि-कान्ता-प्रेरित
आन्दोलायमान
सुन्दर से सुन्दरतर के द्वन्द्वों की,
यह
एक पुरातन स्वप्न देखता
नर-नारी की प्रेम-तपस्याओं का
प्रेम-राग के मधुर विवादों का,
मृदु संवादों का,
जिनसे रचित हुए होंगे
कुछ पावन प्रेरक महाकाव्य,
जिनसे शृंगार हुआ होगा
आवरणहीन श्रद्धाओं का,
जिनसे बन्दना मिली होगी
लुण्ठित विश्वासों को,
जिन से आख्यान हुए होंगे कल्पित
देवासुर-संग्रामों के

तथा
प्रवाहित हुई
हो रहीं,
और युगों तक होती ही जायेंगी जिनसे
उच्छल-शान्त, उष्ण-शीतल
रस और ज्ञान की धाराएँ
जीवन में और कला में
मानव को अतिमानवता के
शुभ से शुभतर तीर्थों में ले जातीं।
... .
किन्तु
कल्पना है यह केवल
मात्र स्वप्न है,
... ...
यदि वाणी के उर पर भास्वर
मणि-माला का अभिनन्दन कर सकता हो
मिट्टी का एक दीप
तो यह लघु नाटक वही दीप है..........
मुझे विदित है
है यह दीप
क्षुद्र क्षण भर का
किन्तु
क्षणों से ही अनन्त बनता है,
क्षण भर जलना भी
अनन्त की ही अर्चा है,
है विभु को ही लघु का नमस्कार,
सत् को तत् की पुकार,
....
तो
अब जो चाहें आप इसे मानें—
मेरा स्नेहोपहार,
या मेरी क्षमा-याचना।

——

पूर्वार्द्ध

ॐ

प्रथम-दृश्य

(नेपथ्य में गान होता है—ऋतुसंहार के वर्षा-वर्णन का प्रथम श्लोक)

ससीकराम्भोधरमत्त कुंजरस्तडितपताकोऽशनिशब्दमर्दल:
समागतो राजवदुद्धतद्युतिर्घनागमः कामिजनप्रियः प्रिये।

(यवनिका खुलते समय रंगमंच पर अन्धकार है। एक प्रकाश जलता है। रंगमंच पर हाथों में फूल लिये सूत्रधार खड़े हैं।)

सूत्रधार—नूतन को पुरातन का आशीर्वाद भी *(फूल बरसाते है)* और नमस्कार भी। *(नमस्कार करते हैं। एक दूसरा प्रकाश जलता है। उसी प्रकाश के साथ-साथ नटी का प्रवेश)*

नटी— आर्य ! आपको समय का भी कुछ ध्यान है ? आप क्या भूल गये हैं कि जब उज्जयिनी की रंगशाला कोई नाटक या प्रबन्ध प्रस्तुत करने लगती है तब उसका मांगलिक मृदंग-वादन सुनने के लिए सम्राट की शास्त्रार्थ-पीडित राजसभा वैसी ही व्याकुल हो उठा करती है जैसी आषाढ़ का मेघ-गर्जन सुनने के लिए पृथ्वी की ग्रीष्मार्त प्रजा ? *(मेघ-गर्जन होता है)* तो अब.........

सूत्रधार—पहले यहाँ प्रेक्षा-गृह में उपस्थित सभी दर्शकों को एक बार नमस्कार तो कर लो, शुभानने !

(नटी दर्शकों को साह्लाद सादर नमस्कार करती है, फिर उन्हें ध्यान से देखने के बाद विस्मित-सी खड़ी रह जाती है।)

नटी— अरे ! यह मैं कहाँ चली आई ? किस नूतन देश, नूतन सभा में आकर खड़ी हो गई हूँ मैं ?

सूत्रधार—विस्मित-विलोचने ! आज यहाँ तुम एक नूतन युग में आकर खड़ी हुई हो। अपने युग की कला से इस युग का मनोरंजन करो, कला-कलापिनि !

नटी— किन्तु, नट-शिरोमणे, यह क्या सम्भव होगा ?

जिस युग की निशा
ऐसी विद्युद्विलासिनी हो,
विरह की तमिस्रा में
पर्यटन रुचेगा उसे ?
गुञ्जित जहाँ हो वायु
गति के इतने स्वरों से,
मूर्च्छिता प्रणय-वाणी
श्रवणगम्य होगी वहाँ ?
नूतन विज्ञान-ज्ञान
बैठे मूर्तिमान जहाँ,
कथा किसी व्यथा की
पुरातन सुना पायेगा ?
तर्क-दामिनी से दीप्त
इस नव-युग-मानस को
कल्पना कुहिरावृत
कर पाना क्या सम्भव है ?

सूत्रधार—यह सम्भव न हो तो भी प्रयास्य है, सुभाषिणि।

ऐसा भी होता है;
सूने अन्तरिक्ष में
द्रुत गतिमान
तर्क-पक्षों पर उड़ता-उड़ता
प्रबल प्रकाशाकांक्षी
यह नव-युग-पक्षी भी
श्रान्त, क्लान्त हो
कहीं रहस्यावृत अतीत की
व्यथा-वाहिनी
किसी कथा-सरिता के तट पर
रस-पिपासु हो
तनिक बैठ जाया करता है,
और तभी
नवीन के स्वल्प मनोरञ्जन के
कुछ क्षण प्राप्त पुरातन को होते हैं।

जान पड़ता है आज तुम्हें भी ऐसे ही कुछ क्षण प्राप्त हो गये हैं, सौभाग्यवति, जबकि (*आकाश में मेघ-गर्जन होता है*) आषाढ़ के प्रथम मेघ का गर्जन सुनकर इस नव-युग को हठात् कवि कालिदास का स्मरण हो आया है। तुम्हें ज्ञात तो है, रसस्विनि, इस समय कवि कहाँ हैं और क्या कर रहे हैं ?

नटी— कवि कालिदास ? मैं तो इतना ही जानती हूँ, रससिंधो, कि इस समय वे सम्राट विक्रमादित्य की आज्ञा से शासन-तंत्र के अनुभव के निमित्त एक वर्ष के लिए उज्जयिनी से बहुत दूर रामगिरि आश्रम में भेज दिये गये हैं और···

सूत्रधार—और ?

नटी— और उनकी अनुपस्थिति में वर्षा-मंगल के उत्सव के अवसर पर उज्जयिनी की रंग-शाला कौन-सा नूतन नाटक प्रस्तुत करे यह अभी भी विवाद-ग्रस्त ही है, किन्तु......

सूत्रधार—किन्तु ?

नटी— किन्तु कविपत्नी राजकुमारी विद्या ने कवि के पास दूती आर्या कादम्बिनी को इस अनुरोध के साथ भेजा है कि वे किसी नये काव्य की रचना करके भेजें जिसे उत्सव के अवसर पर प्रबन्ध रूप में प्रस्तुत किया जा सके। और अब राजकुमारी उस नये काव्य की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही हैं। परन्तु, देव, इन बातों का आज के नाटक से क्या सम्बन्ध ?

सूत्रधार—सम्बन्ध ? वही जो रस-धारा का रसोद्गम से होना चाहिए।

युग-युग से
जग काव्य-रसास्वादन करता आया है,
कवि की सृजन-वेदना
किन्तु कभी
उसने पहचानी ?
कब सोचा उसने
कितने आघातों से,
स्फोटों से,
कैसे पर्वत फटता ?
कैसे सरिता फूट निकलती ?
सरिता विश्व-प्रेयसी,
पर्वत ज्ञेय किन्तु कितनों का ?

सतत गीत-गायक की
व्यथा अगीत बनी रहती क्यों ?
कथाकार की अपनी कथा
नहीं होती क्या कोई ?
विविध चरित्रों का स्रष्टा
क्या स्वयम् चरित्र न होता ?

नटी— किन्तु, नट-श्रेष्ठ, आज यहाँ तो प्रश्न नाटक का है ? क्या कवि कालिदास के जीवन में भी कहीं कोई नाटक है ? कोई संघर्ष ? कोई अन्तर्द्वन्द्व ?

सूत्रधार—यही तो विचारणीय प्रश्न है, रसान्वेषिणि ।

भला कभी यह भी सम्भव है,
जहाँ खड़ा प्रत्यक्ष सृजन
प्रच्छन्न वहाँ संघर्ष नहीं हो ?
जहाँ साधना सुन्दर की,
उपासना शिव की,
शोध सत्य का,
भूमि न हो वह चिरद्वन्द्वों की ?
प्रकृत प्रेम का नाट्यकार जो,
जो निर्भीक पुरोहित
मुक्त मदन-मन्दिर का,
किन्तु
विवाह-धूम से
अरुण लोचनों का
पुलकित गायक बन
अश्रु पोछता जो पीड़ित पलकों का भी,
उस रस-धर्मा, शुभ-कर्मा
कवि-मानस से
विभुतर नाट्य-मंच क्या होगा ?

नटी— यह तो सचमुच मैंने सोचा ही नहीं था, रसार्णव, कि कालिदास एक कवि होने हुए एक पति भी हैं और···और उनके जीवन में कामनाओं और मर्यादाओंका संघर्ष कभी-कभी·· या प्रायः होता हो रहता हो । किन्तु···

सूत्रधार—न सोचने का यह अपराध तुमसे अधिक मेरा ही है, चकित-हरिणी-प्रेक्षणे। आज मैं ही प्रथम बार यह सोच रहा हूँ कि कालिदास ने रामगिरि आश्रम के अपने सुदूर शिविर-जीवन की एकाकिता में बैठकर जिस काव्य का सृजन किया होगा वह कैसा होगा।

सोच रहा मैं,
एक प्रवासी का,
जो कवि भी,
पति भी,
कैसा होगा विरह-गान ?
होगी छन्दों में
कितनी ध्वनि पावन विवाह-मंत्रों की,
कितना गुञ्जन रसमय मुक्त प्रणय का ?
कैसी अंकित छवि कवि-कान्ता की ?
क्या कान्ति ?
स्वकीया की या परकीया की ?
सोच रहा मैं,
सचमुच क्या हैं कालिदास—
कवि-पति
या पति-कवि ?
क्या उनका गन्तव्य ?
कौन - सा पथ ?

नटी— क्या अर्थ ?

सूत्रधार— बताऊँ ?

(सूत्रधार नटी की बाँह पकड़कर उसे अपनी ओर खींचते हैं और नेपथ्य की ओर संकेत करते हैं। नटी विस्मित हो उधर देखती है। अन्धकार हो जाता है।
जब पुनः प्रकाश होता है तब रंग-मंच पर एक पर्वत-शिखर पर एक सघन बन में एक आश्रम का-सा दृश्य उपस्थित होता है। एक वृक्ष के नीचे एक पाषाण-शिला पर बैठी दूती कादम्बिनी मेघदूत काव्य-ग्रन्थ को एक वस्त्र में लपेट रही है। कवि कालिदास उस वृक्ष से पुष्प-गुच्छों को तोड़कर एक स्तवक बना रहे हैं।)

कादम्बिनी—कविवर, अद्भुत काव्य है आपका यह मेघदूत। मुझे विश्वास है इसे सुनकर सम्राट् विक्रमादित्य चमत्कृत हो उठेंगे।

कालिदास—वे रुष्ट भी हो सकते हैं, यह सोचकर कि मैं शासन-दण्ड केवल वामहस्त से धारण कर अपने दक्षिण हस्त से काव्य ही लिखा करता हूँ।

कादम्बिनी—(*हँसती हुई*) हाँ, यह तो सम्राट् के सम्मुख उनके मन्त्रियों का आपके विरुद्ध पुराना अभियोग रहा है। किन्तु जिसे ईश्वर ने कवि बनाया हो उसे मनुष्य शासक कैसे बना सकता है ?

कालिदास—मैं शासक तो बन ही नहीं सकता, किन्तु क्या आप समझती हैं मैं कवि बन सकता हूँ ?

कादम्बिनी—यह कैसा प्रश्न है आपका ? किसी भी साहित्य में ऐसा सन्देश-काव्य और है कोई ? अहा, दूतत्व की कैसी विलक्षण कल्पना ! विरह का कैसा मर्म-स्पर्शी चित्र ! प्रकृति का कैसा सजीव दर्शन ! यदि मेघ वस्तुतः मानव होता तो वह इस काव्य पर मुग्ध होकर आपका दूत बनने को तत्पर हो जाता।

कालिदास—यदि मेघ वस्तुतः मानव होता तो, मुझे भय है, वह इसकी अनेक प्रकार की आलोचनाएँ करता और मैं नहीं सोच पाता हूं कि मैं उनके क्या उत्तर देता।

कादम्बिनी—यह तो आपकी विनम्रता है। मैं निस्सन्देह कह सकती हूँ कि राजकुमारी इसे सुनकर गद्गद् हो उठेंगी।

कालिदास—राजकुमारी विदुषी है। गद्गद् हो उठना विदुषियों का स्वभाव नहीं होता।

कादम्बिनी—आप भूलते हैं; कवि-श्रेष्ठ। आपके नाट्य-प्रदर्शनों के अवसरों पर मैंने अनेक बार राजकुमारी की आँखों में आँसू देखे हैं।

कालिदास—वे आँसू मेरे प्रति उनके रोष के रहे हैं या मेरे काव्य के प्रति उनके तोष के, यह कौन कह सकता है ?

कादम्बिनी—वे आँसू रहे हैं आप जैसे कवि को पति रूप से पाने के आह्लाद के, गर्व के।

कालिदास—किसी स्त्री के लिए उसके पति का कवि होना आह्लाद का विषय हो सकता है, मुझे इसमें सन्देह है। और यदि वह स्त्री दार्शनिक हो तो उसका अपने कवि-पति पर गर्व करना तो और भी अधिक संदिग्ध है।

(नेपथ्य में रथ के रुकने की ध्वनि होती है। मुद्रक का प्रवेश।)

मुद्रक— महाबलाधिकृत की जय हो! आर्या कादम्बिनी की यात्रा के लिए रथ उपस्थित है।

कालिदास—रथ को सर्वांग कुटज-कुसुमों से सजा दो, मुद्रक।

सहसा मेघ-दर्शन से
होकर उन्मत्त
भ्रमरी के चरण-चुम्बन को
आकुल-से हो उठे,
मेरे उन्माद का रहस्य
मदिर कुटज-कुसुम
सौरभ की भाषा में
गाते-से जायेंगे।

मुद्रक— जो आज्ञा, महाबलाधिकृत। *(झुकता है।)*

कालिदास—यह महाबलाधिकृत की आज्ञा नहीं, कवि का अनुरोध है, मुद्रक। इसे विनय से नहीं, स्नेह से पूरा करो।

मुद्रक— तथास्तु। *(जाता है।)*

कादम्बिनी—*(उठ खड़ी होती है)* अहा! उज्जयिनी के वर्षा-मंगलोत्सव के निमित्त यह मेघदूत-काव्य ले जाते समय मेरे चारों ओर कैसे शुभ शकुन हो रहे हैं, यह आप देख रहे हैं न कवि-कुल-प्रदीप?

इधर
यह मानो मकरन्द-मत्त
चंचल वाचाल पवन
अंचल-सा खींच रहा
प्रेरित करता-सा उड़ चलने को,
उधर
वहाँ वाम-दिशा में
हो मेघोन्मुख
वह चातक है गान-मग्न,
ऊपर आबद्धमाल
चल पड़ी बलाकावलि
विह्वल हो गर्भ-कामना से
नभ-चुम्बन को,

इधर
मेघ-गर्जन सुन
आकुल-से राजहंस
नव-विस-किसलय के पाथेय
चञ्चु-मध्य लिये
द्रुत गति से
मानसरोवर
ये उड़े जा रहे,
इन्द्रधनुष-खचित गगन
शोभित वह
उधर, मानों
हैं मयूर-मुकुट-मौलि
स्वयम् कृष्ण ही खड़े ।

कवीश्वर, आप देख रहे हैं न ? आपके मेघदूत-काव्य का वर्णन कैसा अक्षरशः चरितार्थ हो रहा है !

कालिदास—इन अनवरत अश्रुवर्षी आँखों से कुछ देख सकना यदि सम्भव होता तो क्या मैं अपना यह काव्य पूरा ही नहीं कर देता ? क्या अपनी कान्ता का वह चित्र अधूरा ही अंकित करके मुझे आपके हाथों भेजना पड़ता ? वह चित्र आपने यत्न से रखा तो है, आर्ये ?

कादम्बिनी—(*आवेष्ठन में से एक शिला-चित्र निकालती हुई*) इसे तो मैं प्राणों से भी अधिक सम्भालकर रखूंगी, कवीन्द्र ।

कालिदास—(*कादम्बिनी के हाथों से चित्र को लेकर देखते हैं ।*)

प्रणय-कुपिता का
अधूरा चित्र मेरा,
यह कला की वन्दना
सौन्दर्य को है,
मूक स्वीकृति,
कवि भला कब आँक पाया
छवि निखिल नख-शिख
किसी मृदु मानिनी का ।

कादम्बिनी—राजकुमारी का प्रणय-कुपित रूप देखने का मेरा तो यह पहला ही अवसर है ।

कालिदास—सम्भवतः मेरा भी।

कादम्बिनी—तो क्या राजकुमारी का यह रूप केवल आपकी कल्पना है?

कालिदास—कितना अच्छा होता यदि यह सत्य भी होता। किन्तु राजकुमारी तो दार्शनिक है न? दार्शनिक न तो प्रणय में विश्वास करते हैं, न कोप करने का उनका स्वभाव ही होता है। (*हँसते हैं, ऐसी हँसी जिसमें विनोद से अधिक विषाद का भाव है। हँसते हुए ही वे चित्र लौटाते हैं, इतने में ही उनके दाहिने हाथ से कनक-वलय ढीला होने के कारण गिर पड़ता है।*)

यह क्या? यह कनक-वलय मेरे इस कथन का खण्डन कर रहा है?

कादम्बिनी—नहीं, कवि-शिरोमणे, यह तो केवल बता रहा है कि इस क्रूर विरह ने आपकी भुजाओं को कितना कृश बना डाला है। यह तो राजकुमारी के प्रति आपके अगाध प्रेम का ही प्रमाण है। (*कनक-वलय उठा कर उन्हें पहनाती हैं।*)

कालिदास—राजकुमारी का तर्क इसे मेरी किस प्रवृत्तिका प्रमाण मानेगा, यह कैसे कहा जाय? (*मुद्रक का प्रवेश*)

मुद्रक — रथ कुसुमालंकृत हो चुका, आर्य।

कादम्बिनी—(*चित्र को पुनः आवेष्ठित करती हुई*)

तो अब आज्ञा दें। राजकुमारी व्याकुलता से आपके सन्देश की प्रतीक्षा कर रही होंगी।

कालिदास—(*स्तवक बाँधते हुए*) राजकुमारी तो तत्त्व-दर्शिनी हैं। क्या उनमें भी यह दुर्बलता है कि वे किसी के लिए व्याकुल हों? क्या उनके पास इतना अवकाश है कि वे किसी की प्रतीक्षा करें?

कादम्बिनी—आप राजकुमारी के सम्बन्ध में यह भूल रहें हैं, कवि-पुंगव, कि वे जो कुछ भी हों सर्व-प्रथम एक नारी हैं।

कालिदास—नारी? अथवा देवी?

कादम्बिनी—दोनों ही।

कालिदास—ईश्वर ने उन्हें शक्तियाँ तो देवियों की ही दे रखी हैं।

कादम्बिनी—ईश्वर करें; आप उन्हें नारियों की दुर्बलताएँ भी दे डालें। (*हँसती हैं। बाहर से घोड़ेके हिनहिनाने की आवाज आती है।*) तो अब आज्ञा।

कालिदास—(*उन्हें स्तवक देते हुए*) यह आपको मेरा विनम्र उपहार ।
चलिए, आपको रथ तक छोड़ आऊँ ।
(*कालिदास और कादम्बिनी जाते हैं*)

मुद्रक — (*चारों ओर बिखरे पुष्प-गुच्छों को समेटता हुआ ।*)
पत्नी दार्शनिक और पति कवि यह भाग्य की पहली विडम्वना, कवि को शासन-तन्त्र के अनुभव के लिए प्रवासी बनना पड़े यह दूसरी विडम्वना और ऊपर से आषाढ का प्रथम मेघ आ धमके यह तीसरी विडम्बना । (*बाहर रथ जाने की ध्वनि ।*)
इतनी विडम्वनाओं के मध्य में जो काव्य लिखा गया हो, चित्र आँका गया हो, वह ·· (*कालिदास का प्रवेश*)

कालिदास—क्या बुदबुदा रहे हो, मुद्रक ?

मुद्रक — आर्या कादम्बिनी अभी उज्जयिनी न जातीं तो अच्छा होता ।

कालिदास—मैंने तो उन्हें रोकना चाहा था, किन्तु वे रुकीं ही नहीं ।

मुद्रक — मैं चेष्टा करके उन्हें अभी भी रोक सकता हूँ ।

कालिदास—कैसे ?

मुद्रक — एक शीघ्रगामी अश्व पर जा उनसे यह कहकर कि अभी आप के काव्य और चित्र दोनों ही अधूरे हैं, उन्हे पूरा करने में थोड़ा और समय लगेगा ।

कालिदास—व्यर्थ है । लेखनी और तूलिका ने एक बार जो कर दिया कर दिया । (*बैठ जाते है*) तुम्हें मेरे काव्य और चित्र अच्छे नहीं लगे ?

मुद्रक — मेरी तो समझ ही कितनी है ? ईश्वर करे, वे राजकुमारी को अच्छे लगें । (*ऊपर देखता है*) जान पड़ता है वृष्टि आयेगी ।

कालिदास—आने दो । मैं वृष्टि से अपनी दृष्टि को धोना चाहता हूँ । मैं पूछना चाहता हूँ मेघ से ही कि मैं जो कुछ हूँ क्या हूँ, मेरी लेखनी और तूलिका जैसी भी हैं क्यों हैं ।

मुद्रक — (*जाना चाहता है, फिर लौटता है*) आपकी आज्ञा हो तो मैं आर्या कादम्बिनी को अभी भी लौटा ला सकता हूँ ।

कालिदास—जाने दो उन्हें । और जाओ तुम भी । (*मुद्रक आकाश की ओर देखता हुआ जाता है ।*) मित्र मेघ, पहले तो यह बताओ कि तुम जो कुछ हो, क्या हो ? क्यों हो ?

तुम,
वयस्य, नव सजल मेघ,
कैसे रहस्य संसृति के ?
स्रष्टा के किस कुटिल सृजन-कौतुक के
तुम प्रतीक ?
युग-युग से
वर्ष–वर्ष
अवनी-अम्वर में
उमड़-घुमड़
तुम जन-जीवन को
क्या देने आते,
क्या दे जाते हो ?
किये आवरण धारण
शीतल श्यामलता का
पर क्षण-क्षणोद्दीप्त अन्तर में
विद्युद्दाह-प्रवाह छिपाये
क्या व्यवसाय तुम्हारा ?
रस बरसाना तप्त धरा पर
या उत्तप्त पिपासा से
अभिशप्त और कर जाना ?
जग कहता है,
धूम-ज्योति :- सलिल-मरुत के
मृत तत्त्वों के सन्निपात तुम,
पर मानव-अमरत्व-कामना का
तुम से कब कौन
प्रवलतर साधक-बाधक ?
वेद-ऋचा के
चिर-प्रेरक,
चिर-प्रहरी,
चिराहूत,
चिर-वन्दित,
तुम यज्ञों के सफल अन्त,
तुम मर्त्य-लोक को देव-लोक के

अमृत-तुल्य वरदान,
किन्तु
चिर-उपालम्भ मानव का,
काव्यांगण में
कौन उपद्रव नहीं किया तुमने ?
मर्यादा कौन अखण्डित बची?
अलंघित सीमा ?
बना काव्य को साक्षी,
किस कलिका, किस किसलय के कानों में
वर्जित गीत न गाये
विद्रोही यौवन के ?
कवि को दिखा-दिखा,
निज विपुल वारि-वैभव से
किस मृदुला मुग्धा सरिता को
विपथगामिनी नहीं बनाया ?
सजा स्वकीया को परकीया,
परकीया को काव्य-प्रिया में
क्या तुम नीति-भीति-भंजन
जन-जन को नहीं सिखाते ?
दूत सृष्टि को स्रष्टा के,
सच कहो कि
धरती पर रति-काव्य-सृजन
क्या प्रथम तुम्हारा पाप नहीं है ?

(मंच पर एक ओर से प्रकाश होता है। आकाश से एक श्याम वर्ण, विशाल आकार-प्रकार के पुरुष नीचे उतरते हैं। शरीर पर स्वर्णाभूषण, मस्तक पर स्वर्ण-किरीट तथा हाथ में विद्युल्लता की तरह एक लम्बा सुनहरा सर्पिल दण्ड। ये कालिदास की ही कल्पना के मेघ हैं। मेघ विचारमग्न कालिदास को ध्यान से देखते हैं, फिर उनकी ओर बढ़ते हैं।)

मेघ — किसी व्यक्ति को
मित्र नाम से
सम्बोधित कर,
पापी कह कर

उसकी भर्त्सना भी करना,
यह युगल-कृत्य
निश्चयतः
किसी महाकवि का ही हो सकता है।
कविवर,
नमस्कार ! (*व्यंग्यपूर्ण आदर से नमस्कार करते हैं।*)

कालिदास— तुम !
कौन ?

मेघ — मेघ !

कालिदास— तुम मेघ ?

मेघ — मेघ !
वर्षा का प्रथम मेघ !
गौरवमय वंशज
पुष्कर का, आवर्तक का,
विद्युत्पति,
मैं हूँ वही मेघ
जिसका तुमने आह्वान किया है।

कालिदास— अद्भुत् !
मेरी काव्य-कल्पना ने
क्या रूप मेघ को मानव का
दे डाला ?

मेघ — यों कह सकते हो कि
तुम्हारी एक
अनर्थक काव्य-कल्पना में
सार्थकता लाने के निमित्त
मानव का रूप
मेघ ने ग्रहण किया है।

कालिदास— मैं कृतकृत्य हुआ !
परन्तु ······

मेघ— ······तुम मुझे,
परन्तु,

प्रसन्न प्रतीत नहीं होते हो ।
मैंने तो अनुमान किया था,
अपनी अर्थ-विमूढ़ा काव्य-कल्पना को
अर्थवती होती पाकर
कवि प्रसन्न होते हैं ।

कालिदास— है अनुमान सत्य ही,
किन्तु
क्षमा करना,
तुम वही मेघ हो
जिसकी मैंने काव्य-कल्पना की थी,
मुझे तनिक इसमें संशय है···

मेघ — ··· संशय समुचित ही है ।
मेरे त्रिभुवन-पूजित
प्रकृत रूप की
जो उच्छृङ्खल, विकृत कल्पना
तुमने अपने विरह-काव्य में की है,
वह मिथ्या तो है ही,
घोर धृष्टता भी है;
और,
सत्य पूछो तो,
तुम्हें यही कहने को
मैं साकार हुआ हूँ ।

कालिदास — बड़ी कृपा की,
धन्य हुआ मैं !
किन्तु
तुम्हारी पुरुष-प्रकृति की
सरस कल्पना कर
यदि मैंने कोई
अनृत कहा है,
या प्रगल्भता की है,
तो ··· ··· ····

मेघ — ··· ··· कैसा यह उत्तर ?
सरस पुरुष की परिभाषा तो

मैंने तुम्हें
तुम्हारी काव्य-सृष्टि के
क्षुब्ध क्षणों में ही
बतला दी होती
यदि
तुम उसमें मुझे कहीं भी एक शब्द कहने का
अवसर देते।
मेरा आवाहन कर
मुझे मूढ़ की भाँति मौन ही रखना,
कवि,
क्या यह अन्याय नहीं था ?

कालिदास— प्रश्न न्याय का नहीं
वहाँ तो निष्ठा का था।
कैसे तुम्हें बताऊँ ?
कैसे यह समझाऊँ ?
मेरी निष्ठा का आषाढ़ मेघ तो
एक सनातन ऋतु-प्रतीक है
सरस स्नेह का,
सहृदयता का,
जो नभ-पथ पर वायु-वेग से चलता भी
सुनता है ध्यान-मग्न हो
पृथ्वी पर के अपने आवाहक की
करुण वेदना
और उसे दो क्षण की
साश्रु सहानुभूति देता है,
बिना प्रश्न की,
बिना तर्क की,
बिना शब्द की।

मेघ — ...कैसा है
इस मौन सहानुभूति का साधक मेघ,
वेदना-मग्न किसी अपने आवाहक से जो
उसका नाम-ग्राम तक
नहीं पूछता ?

कालिदास— जहाँ वेदना कही-सुनी जाती हो,
क्या महत्त्व है वहाँ
किसी के नाम-ग्राम का ?
नाम-ग्राम तो
किसी देश के,
किसी काल के,
किसी मेघ-आवाहक का
इतना यथेष्ट है,
है वह एक यक्ष
अलकावासी
जो पड़ा प्रवासी बनकर
अपनी प्रणय-भूमि से दूर
रामगिरि के आश्रम में।

मेघ — ...धिक्! धिक्!
कहाँ भोग-नगरी वह अलका,
कहाँ राम-गिरि योग-भूमि यह !
कैसा है वह कामुक यक्ष, जो कि
इस पावन तीर्थ-स्थल में
प्रथम वृष्टि के
ऐसे पुण्य-क्षण में भी
वासना-सिक्त रति-चिन्तन ही
करता रहता है ?

कालिदास— प्रश्न यही तो है,
वयस्य,
उत्तर जिसका मैंने तुमसे माँगा है
अपने मेघदूत में
और अभी भी मांग रहा हूँ—
तुम आषाढ़-मेघ
क्यों होते हो ऐसे उपद्रवी
कि जब
चेतना के सिंह-द्वारों को मर्दित करते
उमड़-घुमड़ कर

मानस-पट पर छा जाते हों,
तब
विवेक, लज्जा,
सब भाग खड़े होते हैं
संयम के गवाक्ष-रंध्रों से···

मेघ — ···कैसा घोर अभद्र प्रश्न यह !
और अशिष्ट अशोभन
है कितना वह मेरा चित्र
जो कि तुमने अङ्कित करने की
स्पर्धा की है
अपने मेघदूत में !
मैं इन दोनों का
उत्कट विरोध करता हूँ···

कालिदास — ····साधु ! साधु !
तो इस उत्कट विरोध में ही
तुम विशद आत्म-परिचय का
एक विशाल काव्य लिख डालो,
उससे युग-युग तक
कवियों का
ज्ञानार्जन भी होगा
और मनोरंजन भी···

मेघ — ···काव्य !
काव्य लिखने का नहीं
लिखाने का व्यवसाय
सदा से मेरा,
ऐसा काव्य
प्रयास करे जो
नहीं मेघ को मानव की
कामुकता के कर्दम में
खींच गिरा देने का
किन्तु उठाते जाने का
धरती के रस-सिञ्चन के
मेघ-पराक्रम तक
मानव को ······

कालिदास — ....मेघ-पराक्रम !
जन-जीवन के
खाण्डव-वन में
कामानल को
जाग्रत कर देना ही तो
अग-जग ने देखा है
युग-युग से
मेघ-पराक्रम !
किन्तु
प्रकट क्यों जल से अनल हुआ करता है,
क्या रहस्य है इसका,
प्रश्न यही है एक जटिल
जो कभी-कभी
कोई-कोई कवि
पूछ दिया करते हैं ।

मेघ — जटिल नहीं,
यह प्रश्न कुटिल है ।
क्यों होता
उद्दीपन मानव काम-कल्पना का
विद्युद्-विलसित जलधर-दर्शन से,
और नहीं क्यों
जलधर भी विद्युत् को विस्मृत कर
अनुकरण करे
मानव की
परकीया-प्रलोभ से कलुषित
काम-केलिका,
ऐसा प्रश्न
काव्य का क्या कौटिल्य नहीं है ?

कालिदास — कौन कहे,
यह है किसका कौटिल्य—

काव्य का,
जलधर का
अथवा दोनों के स्रष्टा का ही ?

मेघ — स्रष्टा को
इस चर्चा में तुम क्यों लाते हो ?
प्रश्न सृष्टि से ही पूछो,
नभ से,
सागर से,
और सुनो सब क्या कहते हैं !
नभ का एक-एक नक्षत्र जानता
जग में मुझ-सा पत्नी-व्रती नहीं,
सागर की मुखर तरंगें तो
युग-युग से
भार्या-भक्त मुझे कह-कह
हँसती हैं;
और मुझे अभिमान
कि मैं अपनी भार्या विद्युत् का
चञ्चल अञ्चल थामे
उसके हास-विभासित पथ पर ही
अम्बर-विहार करता
जग को भरता हूँ।
तो फिर
क्या यह कल्पनीय है
मैं विश्वम्भर,
मैं वसुधा-उपकार-निरत,
मैं...
मैं वंशज पुष्कर का, आवर्तक का,
पथ में
पृथ्वी-पुत्री से प्रलुब्ध हो
नभ से
कामातुर हो उतर पड़ूँगा
तरु-छाया में
छिपकर पीने

जल के छल से
सभ्रू भंग चलोर्मि चपल मुख-अधर
तुम्हारी 'सुभगा वेत्रवती' का ?
क्या यह कल्पनीय है,
मैं मर्यादित मेघ,
जिसे तुम 'ज्ञातास्वाद' बताते,
हो आकृष्ट
'विवृतजघना' गंभीरा के
कटि-निकट
स्वाद-लोलुप बन
मैं ?...मैं ?...
शिव ! शिव !

कालिदास — (*मुस्कुराते हैं, किन्तु फिर तुरत गम्भीर हो जाते हैं।*)
मैं लज्जित हूँ !
मित्र !
सत्य क्या है,
क्या किसका दोष,
रोष क्या किसका,
छोड़ो इसकी चर्चा !
यदि
वास्तव में मेरी काव्य-कल्पना से
तुमको आघात लगा है,
अथवा यदि
जलधर-कान्ता विद्युत् के अन्तर में
अपने पति के एकान्त प्रेम के प्रति
कोई भी संशय उदित हुआ है,
तो······
तो मैं नत-मस्तक हो
करता हूँ क्षमा-याचना
तुम दोनों की ···

मेघ — ····क्षमा-याचना ?
कवि की क्षमा-याचना का क्या मूल्य ?

मूल्य तो
उसके काव्यों में सुधार का ही होता है···

कालिदास — ···काव्यों में सुधार तो,
बन्धु,
तभी सम्भव है
जब कवि का ही
कुछ सुधार हो जाये।
और
मित्रवर,
कवि-सुधार तो कवि-स्रष्टा ही कर सकता है!

मेघ — ···फिर स्रष्टा की चर्चा!
स्रष्टा को इतना अवकाश कहाँ
जो कवियों के सुधार की चिन्ता
अंगीकार करे?
इस चिन्ता-ज्वाला में
जलती रहने के हित ही तो
उसने कवि-कान्ताओं का
सृजन किया है!
कवि-सुधार का भार
सदा कविकी कान्ता पर,
पौरुष को
वश में रखने के हेतु
जन्म नारी का।
तुमने
नारी के सौन्दर्यामृत का पान किया,
क्या उसके
शास्ति-रसायन का भी
सेवन किया कभी?
उन्मत्त प्रेम-सन्देश
प्रचुर भेजे अपनी कान्ता को,
किन्तु
कभी विनीत पति बन
कान्ता-मुख-वर्षित

कर्तव्योपदेश-पीयूष चखा ?
तुम
नारी-स्मित-विमुग्ध,
तुमने क्या
भार्या-भृकुटि-भीत होने के
मधु-क्षण भी लूटे ?
तुम
विरह-मिलन के
अश्रु-हास-चर्चित
नारी-मुख-चारु-चन्द्र को
चक्रवाक बन
निर्निमेष देखते रहे,
क्या तुमने
भार्या-भारवाह बन
नारी-विधि-निषेध-अंकुश-चालित
पालित गयन्द-गरिमा का भी
आनन्द लिया है ?

कालिदास — सत्य तुम्हारा आलोचन यह !
इस आनन्द-लाभ से तो मैं,
मुझे मानना होगा,
प्रायः वञ्चित ही रहता आया हूँ।
यह मेरा दुर्भाग्य ··· ··· ···

मेघ — ··· ···महादुर्भाग्य !
पुरुष-जीवन का
एक महासंकट है
उसके प्रति
उसकी कान्ता का
स्वल्प असावधान हो जाना !
किन्तु,
मित्र,
मैं शीघ्र तुम्हारा यह संकट टालूँगा,
तुम्हें बना दूँगा

निश्चय ही
भाग्यवान् !
अति भाग्यवान् !···

कालिदास — ···वह कैसे ?

मेघ — यत्न सरल है।
शीघ्र तुम्हारी कान्ता को
मैं सावधान कर दूँगा
परकीया-लिप्सा से भरी
तुम्हारी काव्य-कल्पना की
पंकिल धारा से,
फिर तो
कभी नहीं लिखने पाओगे
तुम कोई कामार्त काव्य इस मेघदूत-सा····

कालिदास — मित्र ! ···

मेघ — ··· मित्र जब तुमने कहा मुझे
तब मुझे विवश हो
मित्र-कार्य करना ही होगा।
अतः
मुझे कैलास-गमन में
यदि किञ्चित् विलम्ब भी हो
तब भी उज्जयिनी जाऊँगा ही
और
तुम्हारी कान्ता को शिक्षा दूँगा जिससे····

कालिदास — मेरी कान्ता को शिक्षा देना
सरल नहीं है।

मेघ — क्यों ? वह नारी नहीं ?

कालिदास — ····नहीं, वह देवी है !
है उसका विषय तत्त्व-चिन्तन,
वह पति-चिन्तन में
समय व्यतीत नहीं करती है।

वह दर्शन की विदुषी है,
कवि-मानस में
प्रवेश करने की इच्छा
दी ही नहीं
उसे स्रष्टा ने !

मेघ — कवि की कान्ता
देवी हो, विदुषी हो,
यह तो अच्छा ही है !
उसे प्रेरणा दूँगा मैं,
वह बाँधे
पति को
मुक्त प्रणयकी सतत कामना को
विवाह-बन्धन की नव-श्रद्धा से,
वह पति की रसमयता में
शुचिता का शुभ सञ्चार करे,
वह पति के काव्य-विरह में तप को
नाट्य-मिलन में मर्यादा को
स्थापित कर दे ;
मेरा यह विश्वास अटल है,
कैसा भी हो कुकवि
सुधार सुकान्ता उसका कर सकती है,
फिर यदि कान्ता
देवी हो, विदुषी हो,
तब तो...(*कहते-कहते रुक जाता है*)
तब तो···
···कवि,
क्या तुमसे एक प्रश्न पूछूँ मैं ?

कालिदास — पूछो !

मेघ— तुमने मेघदूत में
अपनी जिस कान्ता का
नख-शिख वर्णन किया
और कर-कर रोये,

वह······
क्षमा करो,
वह ·····
वह तो देवी नहीं, यक्षिणी ही है,
वह वर्णन तो,
दर्शन की विदुषी का नहीं
प्रणय की किसी साधिका का है,
उसे कहाँ अभ्यास तत्त्व-चिन्तन का ?
उसका तो सारा जीवन ही है
पति-चिन्तन,
या यों समझो;
प्रेमिक-चिन्तन !···
मित्र,
सत्य बोलो,
यह क्या रहस्य है ?

कालिदास— *(उनका कोई रहस्य खुलने के बिन्दु पर आ पहुंचा हो, इसकी व्याकुलता के भाव से)*
क्या रहस्य होता है
कभी किसी भी काव्य-कल्पना का ?
है मेघदूत तो एक कल्पना,
क्या है उसमें कहीं प्रयोजन
किसी सत्य का ?
मेघदूत की कान्ता मेरी कान्ता भी है,
प्रणय-साधिका एक यक्षिणी
जो देवी भी नहीं, नहीं विदुषी भी,
ऐसा तुम अनुमान अतार्किक
क्यों करते हो ?

मेघ — मित्र,
मेघ ने तर्क
बुद्धि से नहीं हृदय से
सिद्ध किया है।
मेघ जानता है,

कोई भी काव्य-कल्पना
बिना सत्य का तनिक कहीं आधार लिये,
मानस में रस का
सृजन नहीं कर सकती।
और तुम्हारे मेघदूत की कान्ता ने तो··
(इधर-उधर चारों ओर देखता हुआ)
·· बात तनिक लज्जा की है
स्वीकार जिसे करने में
मेघोचित संकोच स्वल्प
मुझको होता ही है,
फिर भी स्वीकार करूँगा,
अलका की विरहिणी
यक्षिणी ने
इस व्रज-कठोर मेघ-मानस में भी
दो कण रस का सञ्चार किया है।
और······और वे·······
(आँखें मूँद कर
अपने वक्षस्थल पर हाथ रखता हुआ)
शान्तम् पापम् !
शान्तम् पापम् !
(फिर आँखे खोल कर कालिदास के निकट आकर)
और······
और वे रस-कण कहते हैं मेरे अन्तर से—
जो कान्ता कवि की है
वही काव्य की भी है,
देवी नहीं, यक्षिणी,
विदुषी नही, विरहिणी,
मित्र !
बताओ।
बात सत्य है ?

कालिदास— ···सत्य किसे कहते हैं ?
मेरा सत्य कल्पना ही है मेरी,
सत्य तुम्हारा क्या होगा
तुम जानो ?

मेघ — सत्य समझना होगा।
मेघदूत के गुप्त सत्य को,
जिसे नहीं कहने की इच्छा होते भी
तुमने कह ही डाला है,
जिसे कल्पना से आवृत करके भी
तुमने रूप कामनाका दे प्रकट किया है
मुझे समझना ही होगा
अनुमति देते हो ?

कालिदास — अनुमति ?
मानव की अनुमति से मेघ चला है ?

मेघ — मानव-हित ही मानव-अनुमति है,
यह मान
मेघ मानव का हित करने के
पथ पर सदा चला है
और चलेगा;
किन्तु मेघ का मत है—
जब
कान्ता-प्रेरित कवि
नारी और पुरुष के
प्रणय-पराक्रम-पूत गीत रचता है,
जब वर्णन होता है
नारी-गौरव-रक्षा हेतु
युद्ध को चले
क्रुद्ध पौरुष का,
तब-तब
महाकाव्य बनते हैं,
मूर्त महत् को कर
वाणी
सच्चिदानन्द का मन्दिर बनती,

और तभी
पौरुष का तप
शुचिता नारी की,
नव-छन्दों
नव-रागों में
बन प्रेम-गान बज उठते।
आदि-काल से
मेघ लिये भार्या विद्युत् को
रहा घूमता पथ-पथ
प्रेम-गान सुनने संसृति में,
और सदा दिग्-दिग् घूमेगा,
किन्तु ज्ञान वह जो
तेजस्वी हो, पावन हो, रसमय हो,
रस
वीर, करुण, शृङ्गार, सभी हों;
कवि,
क्या ऐसा प्रेम-गान लिखने की
इच्छा
तुम्हें नहीं होती है ?

कालिदास — पता नहीं,
मैंने सोचा ही नहीं कभी यह।
किन्तु,
मित्र,
तुम मेघ
और मैं मानव,
पथ में पलभर का यह परिचय।
तदुपरान्त तुम कहाँ ?
कहाँ मैं ?
अतः
मुझे क्या इच्छा होती है,
क्यों पूछ रहे हो ?

मेघ— (*अट्टहास-पूर्वक हँसकर*)

मानव-बुद्धि !
मेघ का मर्म नहीं समझेगी !
फिर भी
मानव-हित ही
सदा मेघ का धर्म रहेगा !
यदि तुम नहीं
कुकवि से सुकवि बने,
यदि भोग तुम्हारा
योग नहीं बन पाया,
तो,
सच मानो,
इसकी लज्जा
तुमसे अधिक मेघ को होगी !

कालिदास— मेघ-दम्भ तो,
देख रहा हूँ,
स्वल्प नहीं है···

मेघ — ···दम्भ नहीं,
यह तो दायित्व मेघ का,
यदि तुम
विषय-वासना के
उद्दाम कामना-कोलाहल से इतनी दूर
देव-दुर्लभ
इस रम्य रामगिरि के आश्रम में—
जहाँ जनक-तनया के स्नान-पुनीत जलाशय,
रघुपति-चरणांकित गिरि-शृंग
और
शिव-पार्वती के विचरण से
उद्भासित कण-कण
मानव रूप-निरूपित देव-शक्ति का
सायं-प्रातः सरस सुयश गाते रहते हैं—
आकर भी,
इतने दिन रहकर भी,

अपनी उच्छल कल्लोलमयी
कमनीया वाग्धारा में
तप की शान्ति
कान्ति शुचिता की
नहीं प्रवाहित कर पाये तो,
कवि,
इसका अपराधी
तुमसे अधिक तुम्हारा सखा
मेघ ही होगा।
पर
ऐसा अपराध नहीं होने दूँगा मैं,
बन कवि - दूत नहीं
बन काव्य - दूत,
ले कलाकार की नहीं, कला की एक वेदना,
मुझे शीघ्र उज्जयिनी जाना ही होगा,
कवि-कान्ता का परिचय पाना ही होगा,
और····

कालिदास — और···
यदि वहाँ प्रबल रस-धारा बहती हो तो ?

मेघ — तो फिर ·····
शान्तम् पापम् !···
शान्तम् पापम् !···
तो फिर
रस को दर्शन का आह्वान सुनाना होगा,
कवि-कान्ता को काव्य-कला का मर्म
बताना होगा,
और सिखाना होगा
कैसे कवि-सुधार कवि-कान्ता कर सकती है,
यह समझाना होगा,
कैसे कुकवि सुकवि बनते हैं !
(सवेग चला जाता है)

कालिदास — किन्तु···किन्तु क्यों ?
क्यों कवि की इतनी चिन्ता है तुमको ?

इतना काव्य-क्लेश क्यों ?
कवि - कान्ता से ऐसी तुम्हें
अपेक्षा क्यों है ?
कवि·······
कवि - कान्ता·······
मेघ !
मित्र !
सुनते तो जाओ·······
(मुद्रक का प्रवेश)

मुद्रक —आर्य ! आपने मुझे पुकारा ?...

कालिदास —मेघ ! मेघ किधर गया ?

मुद्रक —(*आकाश की ओर देखते हुए*) यह···यह मैं क्या बताऊँ

कालिदास —तुमने अभी यहाँ से किसी को जाते देखा ?

मुद्रक —नहीं तो ! आर्य तो यहाँ अकेले ही विश्राम कर रहे थे।

कालिदास —किन्तु···वह मेघ ?

मुद्रक — आषाढ़ का मेघ कहीं टिकता भी है ? इस क्षण रामगिरि में तो दूसरे क्षण उज्जयिनी में ··· ··· ···

कालिदास—चला गया ? अच्छा, आर्या कादम्बिनी का रथ तो दूर चला गया होगा न ?

मुद्रक — उन्हें लौटा लाना है क्या ? चेष्टा करूँ ?

कालिदास—क्या लाभ ? रहने दो।

मुद्रक — आर्य का चित्त स्वस्थ तो है ? क्या अभी थोड़ा और विश्राम करेंगे ?

कालिदास—मैं थोड़ा भ्रमण करूँगा, मुद्रक। इस आश्रम में एक कुण्ड है न, जिसके जल में, कहते हैं, देवी जानकी स्नान किया करती थीं, जिसकी अन्तर्धारा, सुना है, कैलास-शिखर से बह कर आती है ?

मुद्रक — हाँ। उस कुण्ड की पुण्य-प्रशंसा मैंने उज्जयिनी में राजकुमारी के मुख से प्रायः सुनी है। किन्तु वह कुण्ड तो दूर है, आर्य, और उसका मार्ग दुर्गम।

कालिदास—वह दूर है और उसका मार्ग दुर्गम, इसीलिए तो मैं उसे और भी देखना चाहता हूँ। अभी।

मुद्रक — परन्तु यदि वर्षा फिर होने लगे तो ?

कालिदास—तब तो और भी अच्छा होगा। उस कुण्ड का जल मुझे राम-जानकी के आश्रम-विहार के संस्मरण सुनायेगा, शिव-पार्वती की हिम-क्रीड़ा के आख्यान कहेगा। और वर्षा मुझे उनके अर्थ समझायेगी। मुझे अत्यन्त कुतूहल हो रहा है। चलो, मुद्रक।

(सवेग चले जाते हैं)

मुद्रक — उज्जयिनी में राजकुमारी ने मुझसे यह तो कहा था कि मेघ-दर्शन से इस कुण्ड के दर्शनों की लालसा किसी दिन कवि के हृदय में हठात् जाग उठ सकती है। किन्तु वह लालसा आज इस प्रकार इतनी ?...

(जाता है)

द्वितीय-दृश्य

(उज्जयिनी के राज प्रासाद में कवि-पत्नी राजकुमारी विद्या के कक्ष का एक भाग। नन्दिनी और वन्दिता राजकुमारी का शृङ्गार कर रही हैं। सामने दूती कादम्बिनी मेघदूत काव्य-ग्रन्थ लिये बैठी हैं। राजकुमारी के निकट शिला-चित्र रखा हुआ है।)

राजकुमारी—काव्य के अन्तिम श्लोक का अन्तिम चरण एकबार फिर से पढ़ने का कष्ट तो करें, आर्ये कादम्बिनी।

कादम्बिनी—*(पढ़ती हैं)*

"मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युताविप्रयोगः।"

(पढ़कर वे राजकुमारी की ओर देखती हैं, किंतु राजकुमारी किसी गम्भीर चिंतन में डूब-सी गई हैं। उनका ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा करती हुई-सी वे बोलती हैं।)

आकाश में मेघ का विद्युत से और पृथ्वी पर किसी प्रेमी का अपनी प्रेयसी से निमिष-मात्र का भी वियोग न हो, यही मानों इस काव्य का भरत-वाक्य है।

(राजकुमारी फिर भी ध्यान-मग्न हैं, अतः फिर उनका ध्यान खींचने के लिए वे बोलती हैं)
सृष्टि में प्रत्येक वियोग-नाटक की परिसमाप्ति इस अमोघ भरत-वाक्य से हो, भगवती सरस्वती ऐसी ही कृपा करें !

राजकुमारी—*(उनके कथनों पर कोई भी भाव प्रकट न करती हुई)*
सम्राट् ने इस काव्य को सुनकर क्या कहा, आर्ये ?

कादम्बिनी—उन्होंने तो मुझे इतना ही आदेश दिया, राजकुमारी, कि मैं यह काव्य आपको सुना दूँ ।

राजकुमारी—*(पास में रखे हुए चित्र को हाथ में लेकर)* इस चित्र के सम्बन्ध में सम्राट कुछ बोले ?

कादम्बिनी—उन्होंने इच्छा प्रकट की कि इस चित्र पर आप अपनी सम्मति दें ।

राजकुमारी—इनमें किसी पर भी सम्राट् ने अपना कोई विचार व्यक्त नहीं किया ?

कादम्बिनी—ऐसा प्रतीत हुआ कि वे अपने विचारों से आपके विचारों को अधिक महत्त्व देते हैं ।

राजकुमारी—यह मेरे ऊपर सम्राट् का आवश्यकता से अधिक स्नेह है, जिसका मैं किसी दिन विरोध करनेवाली हूँ । आपको यह काव्य और चित्र देते समय आर्यपुत्र ने क्या कहा, आर्ये ?

कादम्बिनी—कवि ने कहा कि उनके ये काव्य और चित्र दोनों ही अधूरे हैं और उनकी अनवरत अश्रुवर्षी आँखें इन्हें पूरा नहीं होने देतीं ।

राजकुमारी—कितना प्रखर है आर्यपुत्र का प्रेम ! वे क्या सचमुच समझते हैं मैं उनके इस प्रेम के योग्य हूँ ?

कादम्बिनी—इसमें भी कोई सन्देह है ? कवि तो आपको देवी समझते हैं ।

राजकुमारी—देवी !···नारी नहीं ?

कादम्बिनी—जो नारी आप जैसी असाधारण विदुषी हो, दार्शनिक हो, तत्त्व-दर्शिनी हो, वह देवी ही तो समझी जायेगी ।

राजकुमारी—देवी श्रद्धा भले ही पा ले, क्या वह प्रेम भी पा सकती है ? स्वयम् प्रकाश की खोज में भटकनेवाली क्या किसी को रस की प्रेरणा भी दे सकती है ? आर्ये, आर्यपुत्र मुझसे अतिशय असन्तुष्ट तो नहीं प्रतीत हुए ?

कादम्बिनी—यह आप क्या कह रही हैं, राजकुमारी ? कवि के हृदय में

आपके लिए जो भावनाएँ हैं, आपसे जो अपेक्षाएँ हैं, क्या वे इस काव्य में, इस चित्र में फूट नहीं पड़ी हैं ?

राजकुमारी—भावनाएँ ? ···अपेक्षाएँ ? ···मुझसे ? ···यह सन्देश भेजते समय आर्यपुत्र प्रसन्न तो थे ?

कादम्बिनी—वे···वे तनिक चिन्तित थे।

राजकुमारी—चिन्तित ? क्यों ?

कादम्बिनी—यह सोचकर कि ये काव्य और चित्र आपको सचमुच रुचेंगे या नहीं ?

राजकुमारी—तो आपने मेरी ओर से यह तो कहा ही होगा कि उनकी ऐसी कोई भी चिन्ता निर्मूल है।

कादम्बिनी—मैंने तो उन्हें विश्वास दिलाया कि राजकुमारी कवि से केवल प्रेम ही नहीं करतीं, उनकी कला की प्रशंसा भी करती हैं।

राजकुमारी—आर्यपुत्र को विश्वास हुआ ?

कादम्बिनी—यह मैं कैसे कहूँ ? प्रेम की धारा विश्वास के कगारों को सदा काटती रहती है, यह तो आप जानती ही हैं।

राजकुमारी—प्रेम के उपद्रवों को कौन नहीं जानता ? ··· ··· अच्छा, आर्यपुत्र स्वस्थ तो हैं ?

कादम्बिनी—स्वास्थ्य के सम्बन्ध में चिन्ता की तो कोई बात नहीं, किन्तु मेरे लौटते समय उनके हाथ का स्वर्ण-वलय अकारण ही निकल कर गिर पड़ा, इससे मुझे प्रतीत हुआ कि······

राजकुमारी—वे कृश हो गये हैं ?

कादम्बिनी—कृश ? ······ हाँ ······ किन्तु कृशता के कारण और भी आकर्षक।

राजकुमारी—आर्यपुत्र का यह कैसा अन्याय है ! (*कादम्बिनी की ओर घूमकर*) अच्छा, आर्ये, मैं आपका बहुत उपकार मानती हूं। अब आप जाकर विश्राम करें।

कादम्बिनी—जैसी आज्ञा। (*जाना चाहती हैं*)

राजकुमारी—और ······ असुविधा न हो तो राजनटी विद्युत् को भेज दें मेरे पास।

कादम्बिनी—राजनटी विद्युत् को ? अभी ?

राजकुमारी—यथाशीघ्र और · ···और यदि आर्यपुत्र ने राजनटी के लिए कोई निजी सन्देश भेजे हों तो वे भी आप उन्हें अवश्य दे दें।

कादम्बिनी—राजनटी को निजी सन्देश ?

राजकुमारी—आर्यपुत्र ने राजनटी को कुछ व्यक्तिगत सन्देश तो भेजें ही होंगे ?

कादम्बिनी—मुझे तो स्मरण नहीं आता ।

राजकुमारी—आप फिर से स्मरण करें, आर्ये ।

कादम्बिनी—नहीं तो । कुछ भी तो नहीं ।

राजकुमारी—यह तो आर्यपुत्र का और भी बड़ा अन्याय है । अच्छा, राजनटी को भेज दें ।

(कादम्बिनी आश्चर्यित-सी होकर धीरे-धीरे जाती है ।)

राजकुमारी—*(मेघदूत के पृष्ठ उलटती और चित्र देखती हुई)* अर्थ में इतनी उदारता दिखाकर वाक् में इस प्रकार कृपण हो जाना क्या अन्याय नहीं है ?

नन्दिनी— *(उनके पास आकर)* यह चूड़ामणि तो रह ही गई,

वन्दिता— राजकुमारी । और यह चन्द्रहार भी ।

राजकुमारी—आर्यपुत्र का यह अन्याय केवल राजनटी के प्रति ही नहीं, उनके अपने प्रति भी तो है ? जो कहना है उसे वक्रभाव से कहना या कहना ही नहीं, और उसके लिए उनका कष्ट पाना, कृश हो जाना, यह क्या उनके प्रेम पर उनकी कला का घोर अन्याय नहीं है ?

(सवेग बाहर चली जाती हैं । नन्दिनी और वन्दिता हाथ में आभूषण लिये एक दूसरी को देखती खड़ी रह जाती हैं ।)

नन्दिनी— क्या समझी ?

वन्दिता— राजकवि चाहे जितने भी कला-कुशल क्यों न हों, राजकुमारी जैसी बुद्धिमती को ठग नहीं सकते ।

नन्दिनी— मुझे तो आज इस प्रसंग के प्रारम्भ से ही भय हो रहा था । *(चित्र उठाकर देखती है)* इस चित्र में छवि भले ही राजकुमारी की हो, किन्तु मुद्रा तो स्पष्टत: राजनटी की ही है ।

वन्दिता— *(उसके हाथ से चित्र लेकर)* प्रणय-कुपिता का चित्र, हुँहँ ! राजकुमारी के विदुषी-जीवन में प्रणय-कोप के लिए स्थान कहाँ ? यह तो राजनटियों का ही व्यवसाय और स्वभाव हैं । *(चित्र रख देती है ।)*

नन्दिनी—*(मेघदूतके पृष्ठ उलटती हुई)* इस काव्य में जो नारी-विरह

वर्णित है, उसमें राजकुमारी को कभी न तो विश्वास रहा है, न होगा ।

वन्दिता— विरह की मान्यताएँ कला की होती हैं, न कि दर्शन की ?

नन्दिनी— क्या इस काव्य और इस चित्र के छद्म में राजकवि ने राजकुमारी को अपना उलाहना नहीं भेजा है ?

वन्दिता— और राजनटी को अपना अभिनन्दन ?

नन्दिनी— यह तो सचमुच राजकवि का अन्याय है ....

वन्दिता— राजकुमारी के प्रति ।

नन्दिनी— कला के नाम पर दर्शन की उपेक्षा !

वन्दिता— रस की ओट से ज्ञान का तिरस्कार !

(राजकुमारी का पुनः प्रवेश)

नन्दिनी— राजकुमारी कृपया एक क्षण के लिए बैठ जायँ तो...

वन्दिता— हम ये शेष आभूषण भी पहना दें ।

(राजकुमारी अपने आसन पर बैठ जाती हैं । नन्दिनी और वन्दिता आभूषण लेकर उनकी ओर बढ़ती हैं, किंतु वे उन्हें आभूषण रख देने का संकेत करती हैं ।)

राजकुमारी—जगदम्बा के मन्दिर में जाने के लिए क्या आवश्यकता है इतने आभूषणों की ? क्या थोड़े-से सौभाग्य-चिह्न ही यथेष्ट नहीं हैं ?

(नन्दिनी और वन्दिता एक दूसरी को अर्थपूर्ण दृष्टि से देखती हैं ।)

नन्दिनी— क्यों राजकुमारी ?

वन्दिता— आज अकस्मात यह ऐसी भावना क्यों ?

राजकुमारी—*(आँखें मूँदे हुए)* यह सब कुछ भार-सा लग रहा है। क्लान्ति-सी प्रतीत हो रही है। *(शरीर से दो-चार आभूषण स्वयम् निकालकर रख देती हैं ।)*

नन्दिनी— शरीर स्वस्थ तो है ?

वन्दिता— क्या आचार्य धन्वन्तरि को सूचना दी जाय ?

राजकुमारी—नहीं नहीं । मुझे सोचने दो, क्या है धर्म मेरा ।

नन्दिनी— धृष्टता क्षमा, हो, क्या विरह-काव्य सुनकर राजकुमारी भी विरहिणी वेश की कल्पना करने लग गई हैं ?

वन्दिता— ज्ञान की पुष्करिणी में भावना की तरंगें ?

राजकुमारी—क्या आर्यपुत्र इस समय मुझ से शृंगार की अपेक्षा करते होंगे ?

नन्दिनी— शृंगार तो सधवा का चिरन्तन धर्म है, राजकुमारी, पति सहवासी हो तो उसके प्रेम-लाभ के लिए, प्रवासी हो तो देवी के सम्मुख उसकी मंगलकामना के लिए।

वन्दिता— सधवा के देवी-पूजन में शृंगार विलास नहीं, एक विधि होता है, राजकुमारी।

राजकुमारी—(*क्लान्त भाव से आँखें मूँदे हुए ही*) जीवन में विधि क्या है, निषेध क्या, कर्म क्या, अकर्म क्या इसका निर्णय सचमुच बहुत ही कठिन है। सत्य-आत्म-विरोधी, दृष्टि आत्म-प्रवंचिका! निर्णय हो तो कैसे? (*वे धीरे-धीरे आँखें खोलती हैं। जान पड़ता है उन्हें कोई प्रकाश मिल रहा है और उनकी क्लान्ति दूर हो रही है।*) निर्णय!...किन्तु क्या सचमुच मुझे कोई निर्णय करना है? क्या मेरे लिए निर्णय मेरे आराध्यदेव ने स्वयम् नहीं कर दिया है? उस निर्णय को स्वीकार कर लेना ही क्या अब मेरा धर्म नहीं है?
(*आकाश में मेघ गरजता है, बिजली चमकती है।*)
मेघ! आषाढ का प्रथम मेघ! आर्यपुत्र का मित्र मेघ! दूत मेघ! यह मेरे लिए क्या सन्देश लेकर आया है? (*खड़ी हो जाती हैं। मेघ फिर गरजता है, बिजली फिर चमकती है।*) इसकी ध्वनि में तो वेदना नहीं विनोद है, सन्देश नहीं आदेश है। तुमने सुना, नन्दिनि? कुछ समझीं, वन्दिते? क्या नियति मेरे लिए कोई विशेष भूमिका लेकर आ रही है? क्या स्रष्टा मेरे ऊपर कोई नया भार रख रहा है? क्या यह कला की चुनौती है दर्शन को? क्या रस मुसकरा रहा है ज्ञान पर? तप की माँग मुझ से? मर्यादा का भार मुझ पर?...एवमस्तु! (*मेघ को हाथ जोड़कर नमस्कार करती हैं। नन्दिनी और वन्दिता विस्मित होकर उनकी ओर देखती है। प्रतिहारिणी का प्रवेश।*)

प्रतिहारिणी—राजकुमारी की जय हो। आचार्य घटखर्पर पधारे हैं।

राजकुमारी—आचार्य घटखर्पर यहाँ इस समय?
(*नन्दिनी और वन्दिता से*) जाओ, देव-पूजन की व्यवस्था करो। (*प्रतिहारिणी से*) आचार्य को मेरा अभिनन्दन निवेदित करो। (*नन्दिनी और वन्दिता जाती हैं। आचार्य घटखर्पर का प्रवेश। राजकुमारी उनका*

अभिवादन कर उन्हें एक ऊँचे आसन पर बैठने का संकेत करती हैं ।)

घटखर्पर — सौभाग्यवती हों, राजकुमारी। आज असमय में आपको कष्ट दिया।

राजकुमारी—यह मेरा सौभाग्य है। अवश्य ही इस आगमन का कोई विशेष कारण होगा।

घटखर्पर — एक कारण तो यह कि इधर कुछ दिनों से मैंने राजकुमारी को राजसभा में देखा नहीं।

राजकुमारी—कुछ दिनों से आर्यपुत्र की मंगल-कामना के लिए मैंने एक अनुष्ठान कर रखा है।

घटखर्पर — उचित ही है। और दूसरा कारण यह कि सुना इस वर्ष राजकुमारी वर्षा-मंगलोत्सव धूमधाम से मनाने जा रही हैं।

राजकुमारी—प्रति वर्ष इस उत्सव का आयोजन आर्यपुत्र स्वयम् किया करते थे। इस वर्ष वे प्रवास में हैं, अत:···

घटखर्पर — ···उनकी सह-धर्मिणी ही यह आयोजन करने जा रही हैं। यह भी उचित ही है। इस वर्ष उत्सव में राज-कवि का कौन-सा नाटक प्रस्तुत किया जानेवाला है?

राजकुमारी—नाटक नहीं काव्य, आर्यपुत्र का नया काव्य मेघदूत।

घटखर्पर — मेघदूत?···हाँ, हाँ, यही है न?
(आसन से ग्रंथ को उठाकर देखते हैं)
सुना है, अनुपम कल्पना है यह, एक प्रवासी यक्ष का प्रणय-संदेश अपनी···अपनी···

राजकुमारी—···अपनी प्रतीक्षामयी यक्षिणी के प्रति।

घटखर्पर — *(पास ही पड़े शिला-चित्र को उठाकर देखते हुए।)* और सम्भवत: यह है चित्र उसं यक्षिणी का।

राजकुमारी—कल्पना-चित्र।

घटखर्पर — *(राजकुमारी को देखकर फिर चित्र को देखते हुए।)* तप और तृष्णा के समन्वय का कल्पना-चित्र।

राजकुमारी—कला को समन्वयशील होना ही चाहिए।

घटखर्पर — क्यों नहीं? जो अमृत और वारुणी को एक-रस कर दे सके उसी का माम तो है कला। *(चित्र रख देते हैं)* किन्तु इस आयोजन के लिए राजकुमारी को जितनी प्रफुल्ल होना चाहिए उतनी देख नहीं रहा हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि राजकुमारी

कोई उत्सव नहीं, यज्ञ रचाने जा रही हैं। मुख पर भाव रस-भोग से अधिक कर्मयोग का है। मेरी वृद्ध आँखें मुझे प्रवंचित तो नहीं कर रही हैं ?

राजकुमारी—आपकी आँखों की आलोचना करने की धृष्टता मैं नहीं करूँगी। मैं जो कुछ करने जा रही हूं उसमें आपका आशीर्वाद मिले इतना ही निवेदन करूँगी।

घटखर्पर — आशीर्वाद ? आप अपने पति की प्रिया बनें, यह तो आपके सभी गुरुजनों का आपको चिर-आशीर्वाद है। मेरे लिए इस उत्सव में कुछ करणीय हो तो···

राजकुमारी—आप उत्सव में पधारने का कष्ट करें।

घटखर्पर — अवश्य। मेघदूत के गान का श्रवण किसे सुखकर नहीं होगा ? अच्छा, इस उत्सव की नायिका के रूप में किसे चुन रही हैं आप ?

राजकुमारी—जिसे आर्यपुत्र ने स्वयम् चुन रखा है।

घटखर्पर — अर्थात् ?

राजकुमारी—राजनटी-विद्युत् को।

घटखर्पर — राजनटी विद्युत् को ?

राजकुमारी—राजनटी की कला में कोई सन्देह है आपको ?

घटखर्पर — नहीं, नहीं, मेरे पूछने का अभिप्राय यह है कि......

राजकुमारी—आर्यपुत्र के प्रत्येक नाटक की नायिका की भूमिका राजनटी ही करती आई हैं, क्या यह सत्य नहीं ?

घटखर्पर — हाँ हाँ, किन्तु मैं तो यह जानना चाहता था कि....

राजकुमारी—भाँति-भाँति के नाट्य-चरित्रों के लिए आर्यपुत्र को नई-नई प्रेरणाएँ राजनटी से मिलती रही हैं, क्या यह अतिशयोक्ति है ?

घटखर्पर — नई-नई प्रेरणाएँ···यही तो प्रश्न है, राजकुमारी। क्षमा करें, कभी-कभी लोक-मत प्रेरणाओं के अनुचित अर्थ लगाने लग जाया करता है।

राजकुमारी—अनुचित अर्थ ?

घटखर्पर — ऐसे अर्थ जो राजनटी के लिए अशोभन, राजकवि के लिए अकीर्तिकर और......और राजकुमारी के लिए अप्रिय हों।

राजकुमारी—किन्तु ऐसे अर्थ भ्रान्त होंगे।

घटखर्पर — भ्रान्त होकर भी विचारणीय।

राजकुमारी—ऐसा लोकमत अत्याचार है।

घटखर्पर — लोकमत ईश्वर का मत है। राजनीति में उसके अत्याचार का उपचार नहीं।

राजकुमारी—राजनीति से इस उत्सव का क्या सम्बन्ध ?

घटखर्पर — यही कि इस उत्सव का आयोजन आप कर रही हैं, और आप सम्राट विक्रमादित्य की पुत्री हैं।

राजकुमारी—तो......तो क्या मुझ से यह कहने के लिए सम्राट् ने ही आपको मेरे पास भेजा है ?

घटखर्पर — सम्राट् ने मुझे भेजा तो नहीं है, किन्तु जो प्रस्ताव लेकर मैं आया हूँ, यदि उसे आपकी सहमति मिले तो सम्राट् को प्रसन्नता अवश्य होगी।

राजकुमारी—क्या है वह प्रस्ताव ?

घटखर्पर — यही कि इस उत्सव की नायिका के रूप में किसी अन्य को चुना जाय और.......

राजकुमारी—और ?

घटखर्पर — और राजनटी की कोई समुचित आर्थिक व्यवस्था करके उन्हें सदा के लिए उज्जयिनी से कहीं दूर भेज दिया जाय जहाँ वे आजीवन सुख-शान्ति से रहकर......

राजकुमारी—यह प्रस्ताव स्वयम् सम्राट् का है ?

घटखर्पर — सेवकों के प्रस्ताव सम्राट् प्रायः स्वीकार कर लिया करते हैं।

राजकुमारी—किन्तु ऐसे प्रस्ताव के लिए आधार ?

घटखर्पर — निराधार लोक-मत के लिए भी सतर्क रहना राजधर्म है, राजकुमारी !

राजकुमारी—किन्तु इससे उज्जयिनी के रंगमंच को कितनी क्षति होगी, यह भी सोचा गया है ?

घटखर्पर — रंगमंच से राज-परिवार कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

राजकुमारी—और राजनटी ?...क्या उन्हें यह स्वीकृत होगा ?

घटखर्पर — राजनटी की स्वीकृति का प्रश्न ही कैसा ? उन्हें तो जो भी राजाज्ञा मिलेगी उसी का पालन करना होगा। इस राजाज्ञा को अब केवल एक वस्तु चाहिए, राजकुमारी, आपकी सहमति।

राजकुमारी—मेरी सहमति। और यदि वह न मिले तो ?

घटखर्पर — तो ? ......किन्तु क्यों ? जिससे सभी समस्याओं का समाधान होता हो, उससे आपकी असहमति क्यों ?

राजकुमारी—यदि मैं इसे समाधान न मानती होऊँ तो ?

घटखर्पर — तो ? ......तो इसका अर्थ है आप सम्राट के निर्णय को नहीं मानती। उनके न्याय में आपको विश्वास नहीं।

राजकुमारी—निर्णय !... न्याय !... कैसे विचित्र हैं ये शब्द !

घटखर्पर — विचित्र स्थितियों में विचित्र प्रश्नों को लेकर निर्णय और न्याय को भी विचित्र होना पड़ जाता है, राजकुमारी। (*खड़े होकर काव्य और चित्र को देखते हुए*) प्रवासी कवि के काव्य और चित्र में अंकित मूर्ति विदुषी की न होकर वियोगिनी की हो, कल्पना देवाराधन के लिए सजती हुई रत्नालंकृता पत्नी की न होकर प्रणय-कुपिता मलिन-वसना प्रेयसी की हो, यह स्थिति थोड़ी विचित्र तो है। ऐसी स्थिति में सबका यश, सबकी मर्यादा, सबका सुख कैसे सुरक्षित रहे इस प्रश्न में भी थोड़ी विचित्रता है ही। और फलतः सम्राट के निर्णय और न्याय भी विचित्र प्रतीत हों तो आश्चर्य ही क्या है ? (*राजकुमारी ध्यान-मग्न हो जाती हैं, मानों कुछ सुन ही नहीं रही हैं।*) सम्राट् राजकुमारी की सहमति की प्रतीक्षा करेंगे, सम्राट् के रूप में ही नहीं, पिता के रूप में भी। (*राजकुमारी फिर भी ध्यानमग्न हैं।*) कल्याण हो !

(*आचार्य घटखर्पर जाते हैं। दूसरी ओर से नन्दिनी और वन्दिता का प्रवेश। वे राजकुमारी को ध्यान-मग्न देखकर थोड़ी ठिठक जाती हैं, फिर उनके निकट आ खड़ी होती हैं।*)

नन्दिनी — पूजन का समय हो रहा है, राजकुमारी।

वन्दिता — आपके मन्दिर जाने के लिए शिविका उपस्थित है।

राजकुमारी—ओह ! मुझे तो ध्यान ही नहीं रहा। मेरा केश-विन्यास पूरा कर दो, नन्दिनि ! आभूषण पहनाने में शीघ्रता करो, वन्दिते ! मैं पूर्ण शृंगार करके ही देवी-पूजन करने जाऊँगी।

(*दोनों सवेग मंजूषाओं में से आभूषण निकालने लग जाती हैं।*)

नन्दिनी — चूड़ामणि रक्त या नील ?

वन्दिता — चन्द्रहार हीरकों का या मुक्ताओं का ?

(*वे आभूषण निकाल-निकाल कर राजकुमारी के*

सामने रख देती है, किन्तु उनका ध्यान उधर है ही नहीं।)

राजकुमारी—(*मानों अपने आप से कह रही हैं*) कल्याण !··· जो सत्य को स्वीकार न करे, जिसमें सौन्दर्य का आग्रह न हो, वह भी क्या कल्याणकर हो सकता है ? स्पष्ट है सत्य, मुसकरा रहा है सौन्दर्य। मैं आर्यपुत्र के लिए काव्य की प्रेरणा न बन सकूँ, किन्तु आदर्श का आह्वान तो बनूँ। मुझे प्रेयसी का अधिकार अप्राप्य है, किन्तु पत्नी का कर्त्तव्य तो मुझसे कोई छीन नहीं सकता। (*हँस पड़ती हैं।*)

नन्दिनी — जूड़ा अधिक तो नहीं कस गया, राजकुमारी ?

वन्दिता — भुजबन्ध ढीले कर दूँ ?

राजकुमारी—कौन-सा पुराण है जो यह नहीं बताता कि पुरुष का स्वभाव है परिवर्तनों से खेलते रहना ? कौन-सा इतिहास है जो यह नहीं कहता कि स्त्री का स्वधर्म है परम्परा को बचाये रखना। जो कठोर न हो वह परिवर्तन क्या ? जो सहन न कर सके वह परम्परा कैसी ? जो असम्भव की मांग न करे वह पुरुष क्या हुआ ? जो सम्भव से अधिक न दे सकी वह स्त्री क्योंकर बनी ? शृंगार पूरा हो गया ? (*नन्दिनी और वन्दिता उनके आगे-पीछे दो दर्पण लेकर खड़ी होती हैं।*)
···कैसी लग रही हूं मैं ?

नन्दिनी — मानों सामवेद की कोई संगीत-बद्ध ऋचा।

वन्दिता — या आरती के निमित्त जगमगाती हुई मन्दिर को दीप-शिखा।

राजकुमारी—तुम्हारी इच्छाएँ पूरी हुई ? ऋंगार में कुछ छूट तो नहीं गया ?

नन्दिनी — ये रत्न-नूपुर......

वन्दिता — एक मणि-मेखला......

राजकुमारी—अब रहने भी दो। क्या शृंगार शेष रह गया है, यह अब चल कर भगवती पार्वती से ही पूछूँगी जिन्होंने अपने पूजन में मेरा शृंगार अधिकार के बदले धर्म बना दिया है, देवी सीता से ही पूछूँगी जिन्होंने मुझे स्वामी की मंगल-कामना की विद्या तो दी किन्तु प्रियतम से प्रणय-कोप की कला नहीं।
(*प्रतिहारिणी का प्रवेश*)

प्रतिहारिणी—राजकुमारी की जय हो ! वे उपस्थित हैं।

राजकुमारी—कौन ?

प्रतिहारिणी—राजनटी देवी विद्युत्।

राजकुमारी—उन्हें सादर ले आओ।

(*प्रतिहारिणी जाती है।*) नन्दिनि, पिंजरस्था सारिका को जल पिलाने का समय तो नहीं हो गया ? वन्दिते, आर्यपुत्र के प्रवास से लौटने के दिन गिनने के लिए वातायन पर पुष्प रखने हैं न ?

दोनों — (*एक दूसरी को देखती हुई*) हाँ, राजकुमारी !...

(*दोनों जाती हैं। दूसरी ओर से राजनटी विद्युत् का प्रवेश। उनका रूप, मुद्रा, वेश-भूषा सब कुछ मेघदूत की विरहिणी यक्षिणी का-सा ही है। वे झुककर राजकुमारी का अभिवादन करती हैं।*)

राजकुमारी—आओ विद्युत्। तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रही थी मैं।

(*निकट के एक आसन पर बैठने का उन्हें संकेत देती हैं।*)

राजनटी — यह आपकी असीम कृपा है। आप संभवतः कहीं......

राजकुमारी—हाँ, जगदम्बा—मन्दिर जा रही हूं, और तुम भी मेरे साथ चलो इसीलिए बुलाया है तुम्हें।

राजनटी — मैं ?...किन्तु.......

राजकुमारी—(*राजनटी को ध्यान से देखती हुई*) किन्तु तुम कृश-सी दीख पड़ती हो। स्वस्थ तो हो ?

राजनटी — आपका आशीर्वाद है।

राजकुमारी—(*स्वयम् एक आसन पर बैठकर राजनटी को भी निकट बैठाती हुई*) तुम्हें देखने पर अब मुझे स्पष्टतर हो रहा है कि आर्यपुत्र की कला का रहस्य क्या है।

राजनटी — मुझे देखकर ?....क्या अर्थ ?

राजकुमारी—अर्थ !...तुम्हें कितने दिनों बाद मैं देख रही हूँ, विद्युत् ?

राजनटी — आठ मास से अधिक हो गये।

राजकुमारी—ठीक है। रंगमंच पर 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के पिछले प्रदर्शन के अवसर पर ही तो...

राजनटी — ...तब आपने मेरा बहुत ही उत्साह-वर्धन किया था।

राजकुमारी—क्यों नहीं ? आज भी वह दृश्य कल की तरह स्मरण है मुझे।

(*राजकुमारी की आँखों में विनोदपूर्ण स्नेह का भाव*

उभर आता है ।) जब शकुन्तला की भूमिका में तुम जल-कलश लिए भ्रमर-बाधा का नाट्य कर रही थीं, और तभी जब दुष्यन्त की भूमिका में आर्यपुत्र नेपथ्य से 'न भेतव्यं न भेतव्यम्' कहकर मंच पर तुम्हारी ओर बढ़े तब तुम नाटक और नाट्य सब कुछ भूलकर आर्यपुत्र से लिपट गई थीं। तुम्हारे उस सरल मुग्ध प्रेम के अप्रत्याशित अभिनय की सभी ने प्रशंसा की थी।

राजनटी — वह स्मरण कर तो मैं आज भी संकुचित हो उठती हूँ। मेरी इस विस्मृति के लिए नाटक समाप्त होने पर राजकवि ने मेरी जो तीव्र भर्त्सना की थी वह मैं अब तक नहीं भूली हूं।

राजकुमारी—यह तो आर्यपुत्र की अरसिकता थी। अच्छा, यह पुष्प ग्रहण करो, विद्युत्। ताम्बूल लो!

(*पास ही रखे ताम्बूल और पुष्प की ओर संकेत करती हैं।*)

राजनटी — क्षमा करें, राजकुमारी। यह सब तो इधर मैंने छोड़ ही रखा है।

राजकुमारी—छोड़ ही रखा है? क्यों?

राजनटी — ऐसे ही। मैंने एक व्रत ले रखा है।

राजकुमारी—ऐसा कठोर व्रत? कब से?

राजनटी — यही ·····लगभग···

राजकुमारी—पिछले आठ महीनों से?

राजनटी — हाँ····किन्तु आपने कैसे जाना?

राजकुमारी—यह तो स्पष्ट ही है। तुम्हारी यह विरह-साधना का ही तो व्रत है न? (*एक पुष्प और एक ताम्बूल स्वयम् लेती हैं।*)

राजनटी — नहीं नहीं। विरह का अधिकार तो उनका होता है जिन्हें कभी प्रेम का वरदान मिला हो। मेरा तो केवल प्रेम का अर्थ समझने का व्रत है।

राजकुमारी—तुम उस अर्थ के बहुत निकट पहुँच गई हो विद्युत्। यह शिशिर-मथिता पद्मिनी के समान तुम्हारा मुख ही बता रहा है। मैं ठीक कह रही हूँ न?

राजनटी — कैसे कहूँ? वह अर्थ मैं किसी दिन आप से ही समझ सकूँ, यह मेरी बड़ी इच्छा रही है।

राजकुमारी—प्रेम का अर्थ? मुझसे?

राजनटी — हाँ, आपसे उस प्रेमका अर्थ जो नारी को देवी बना दे सकता है।

राजकुमारी—(*हँसती हुई*) विद्युत, प्रेम-साधना में देवी से ऊँचा स्थान

नारी का होता है। प्रेम का अर्थ तो मुझे तुम्हें समझाना नहीं तुम्हीं से समझना है।

राजनटी —यह आप क्या कह रही हैं ? मैं किस योग्य हूँ ?

राजकुमारी—सत्य ही तो कह रही हूँ। तुम किस योग्य हो यह मेरी आँखों से देखो। यदि मेरी आँखो पर भरोसा न हो तो आर्यपुत्र की आँखों से देखो। तुमने सुना ? आर्यपुत्र ने उज्जयिनी के वर्षा-मंगलोत्सव के लिए एक नया काव्य रचा है !

राजनटी —कौन-सा काव्य ?

राजकुमारी—मेघदूत ! (*काव्य-ग्रंथ उठाकर राजनटी को देती है।*)

राजनटी —मेघदूत ? किसकी कथा है यह ?

राजकुमारी—प्रत्येक काव्य किसी-न-किसी रूप में कवि की अपनी ही कथा हुआ करता है।

राजनटी —(*ग्रंथ के पन्ने पलटती हुई*) यह तो किसी यक्ष की कथा जान पड़ती है।

राजकुमारी—कथा से अधिक सन्देश। एक प्रवासी यक्ष का अपनी विरहिणी यक्षिणी को सन्देश।

राजनटी —एक पति का अपनी पत्नी को सन्देश ?

राजकुमारी—यों कहो कि एक प्रेमिक का अपनी प्रेयसी को सन्देश। मेघदूत में जिसे सन्देश भेजा गया है उस विरहिणी का आर्यपुत्र द्वारा अंकित देखो यह चित्र। (*चित्र राजनटी को देती हैं।*)

राजनटी —यह ···· ··· यह तो आपका चित्र है न ?

राजकुमारी—क्या यह सचमुच मेरा ही चित्र है ?

राजनटी —छवि तो आप की ही है ?

राजकुमारी—और मुद्रा किसकी है ?

राजनटी —आपका ··· ···· आपका अभिप्राय है कि ···

राजकुमारी—मेरा नहीं, चित्रकार का ही अभिप्राय है कि यह चित्र मुझसे अधिक तुम्हारे निकट हो। मानती हो न ?

राजनटी —किन्तु ··· यह ···· यह तो अनुचित हैं।

राजकुमारी—तुम भूलती हो। कला का औचित्य तर्कों के लौह-दण्ड से नहीं, भावनाओं के कमल-नाल से ही मापा जाया करता है।

राजनटी —किन्तु जिस में लक्ष्य कोई हो, उपलक्ष्य कोई, उस कला का अर्थ ?

राजकुमारी—यह प्रश्न तुम्हारा ही नहीं मेरा भी है। इस कला को श्रद्धापूर्वक समझने में मेरी सहायता करो।

राजनटी— सहायता ? कैसे ?

राजकुमारी—इसके संकेत को समझकर और स्वीकार कर।

राजनटी —किन्तु यदि यह संकेत वही है जो आप कह रही हैं, तो यह तो अस्वीकार्य है, आपके लिए भी, मेरे लिए भी।

राजकुमारी—यह संकेत व्यक्ति का नहीं नियति का है, कवि का नहीं कवि के स्रष्टा का है, जब तुम यह मान लोगी तब इसे अस्वीकार करने का तुम्हारा उतावलापन बहुत कुछ घट जायेगा। मैं तुमसे एक बात पूछूँ, विद्युत् ?

राजनटी —आपसे गोपनीय मेरे पास कुछ भी नहीं है।

राजकुमारी—तुम कवि से प्रेम करती हो ?

राजनटी —मैं ?...मेरी बुद्धि उन से रुष्ट और हृदय उन पर मुग्ध रहा है। यदि यह प्रेम है तो है, नहीं है तो नहीं है।

राजकुमारी—उनके प्रवास ने तुम्हें विरहिणी बना डाला है, यह उनके लिए तुम्हारा प्रेम ही तो है ?

राजनटी —यह है, जैसा कि मैं इसे समझती हूँ, उनकी कला की सेवा में मेरा एक विनम्र प्रयास।

राजकुमारी—ऐसा कठोर प्रयास ?

राजनटी —उनकी कला मानों किसी मूर्त नारी को नहीं, अमूर्त नारीत्व को ही सम्बोधित करती रही है। मैं तो केवल अमूर्त को मूर्त बनाने की चेष्टा करती रही हूँ।

राजकुमारी—तुम ऐसी चेष्टा करो, क्या यह उनका आदेश था ?

राजनटी —आदेश नहीं, केवल एक संकेत। एकबार उन्होंने कहा था—

इच्छा होती,
तुम्हें देखता रहूँ
निरन्तर निर्निमेष
पर
किसी दूर निर्जन एकाकीपन से,
जहाँ मिलन का पथ रोके
शत-शत निष्ठुर पाषाण खड़े हों,
और

तुम्हें पाने की मेरी विकल कामना
विरह-काव्य की सरिता बन
वह निकले।

राजकुमारी—कैसी अद्‌भुत कामना है यह! इसकी पूर्ति के लिए तुमसे क्या अपेक्षा रही है उनकी?

राजनटी — एक दूसरे अवसर पर वे कहने लगे थे—

इच्छा होती,
तुम्हें निवेदित करूँ प्रेम,
पर तब
जब,
तुम अलका की
विरह-विमग्ना एक यक्षिणी,
मैं पृथ्वी पर एक प्रवासी यक्ष,
और
सागर से मान-सरोवर जाता
कोई सहृदय मेघ
अश्रुमय मेरा प्रेम-गान तुम तक पहुँचा दे।

राजकुमारी—किन्तु उनकी ऐसी कामना तुमसे क्यों? इसका रहस्य?

राजनटी —प्रवास के लिए जाने से पहले वे गुनगुना उठे थे—

इच्छा होती,
वाणी-मन्दिर में
मेरा लघु काव्य-कुञ्ज हो,
मुकुलित जहाँ दीप्त यौवन,
गुञ्जित निर्बाध प्रणय,
निर्झर रस का,
सौरभ मादकता का,
हरीतिमा स्मृतियों की,
छाया स्वप्नों की,
जिसमें जीवन का कोई भी श्रान्त पथिक
आ कभी-कभी दो पल बैठे,
पुलकित हो जाये।

राजकुमारी—और इस काव्य-कुञ्ज को ही अब तुम अपनी विरह-साधना से सींच रही हो। इसके पुरस्कार में तुम्हें कवि का प्रेम मिले यह तो उचित ही है।

राजनटी — कवि किसी से प्रेम कर सकते हैं, मुझे इसका विश्वास नहीं होता।

राजकुमारी—यदि वे किसी से प्रेम न करें तो कवि हो ही कैसे सकते हैं ?

राजनटी — उन्हें प्रेम केवल अपनी कविता से रहा है, आज भी है, सदा रहेगा।

राजकुमारी—यह तो और भी एक विशेष कारण है कि उनकी कविता को प्रेरणा मिलती रहे।

राजनटी — हाँ, किन्तु शुभ और शोभनीय प्रेरणा, राजकुमारी, जो उन्हें आप ही दे सकती हैं।

राजकुमारी—मैं उन्हें क्या दे सकती हूँ और कैसे दे सकती हूँ, इसका निर्णय मुझे ही करने दो, विद्युत्। तुम मेरा एक निर्णय मानोगी ?

राजनटी — मैं···मैं दार्शनिक नहीं हूँ, राजकुमारी, एक साधारण नटी हूँ। मुझे क्रोध आ रहा है कवि पर, विरक्ति हो रही है अपने से, शंका हो रही है आपके निर्णय में। सच मानें, राजकुमारी, मेरी तो इच्छा हो रही है कि उज्जयिनी से दूर, कहीं बहुत दूर सदा के लिए चली जाऊँ। (*उठ खड़ी होती है*)

राजकुमारी—विद्युत् !

राजनटी — मुझे तो प्रतीत हो रहा है कि इसी में सबका कल्याण है।

राजकुमारी—विद्युत ! कल्याण की चिन्ता का अधिकार तुमसे अधिक मेरा है यह तो तुम मानती हो ?

राजनटी — यह मैं कैसे अस्वीकार करूँ ?

राजकुमारी—और कल्याण का अर्थ मैं तुमसे अधिक समझती हूँ, इसका तुम्हें विश्वास है ?

राजनटी — अवश्य।

राजकुमारी—तो बैठो और वचन दो कि तुम मेरी इच्छा का पालन करोगी।

राजनटी —(*बैठ जाती है*) क्या करना होगा मुझे ?

राजकुमारी—तुम्हें इस उत्सव की नायिका और गायिका बनना होगा। तुम इसे अपने रूप और स्वर से सजाओगी।

राजनटी — किन्तु ···

राजकुमारी— ··· और कोई भी किन्तु-परन्तु तुम्हारी वचन-पूर्ति का पथ बाधित नहीं करेगा ! स्वीकार है ?

राजनटी — शिरोधार्य ! (*उठ खड़ी होती है*) और कुछ ?

राजकुमारी—(*उठती हुई*) बहुत कुछ। अभी तो मुझे तुमसे और बहुत-सी आशाएँ हैं। कवि की काव्य-प्रेरणा के लिए बहुत कुछ माँगना है तुमसे। किन्तु ··· तुम्हारी आँखों में आँसू ? निश्चय ही ये हर्ष के आँसू हैं, उल्लास के आँसू !

राजनटी — मैं आपकी किसी भी सेवा के योग्य बन सकूँ, इस कामना के आँसू !

राजकुमारी—तब तो मैं पोछूँगी नहीं इन्हें। इनका बह जाना ही श्रेयस्कर है। आँसुओं से धुली हुई तुम्हारी आँखें ही देख पायेंगी कि यह सेवा किसे अर्पित होने जा रही और क्यों।

राजनटी — आपकी दृष्टि का एक अंश मुझे भी मिले, यह आशीर्वाद दें, राजकुमारी।

(*राजकुमारी के चरण-स्पर्श करना चाहती हैं।*)

राजकुमारी—(*उन्हें उठाकर हृदय से लगाती हुई*) मैं तुम्हें क्या दूँ, यह मुझे सोचने दो, विद्युत्।

(*प्रतिहारिणी का सवेग प्रवेश*)

प्रतिहारिणी—राजकुमारी की जय हो। सम्राट् इधर ही पधार रहे हैं।

राजनटी— सम्राट् !

राजकुमारी—इधर ?

(*सम्राट् विक्रमादित्य का प्रवेश*)। *मुखाकृति गम्भीर और फिर भी स्निग्ध। राजकुमारी तथा राजनटी दोनों ही उनका अभिवादन करती हैं। वे धीरे-धीरे वहाँ आकर खड़े होते हैं जहाँ काव्य और ग्रन्थ पड़े हुए हैं।*)

राजकुमारी—तात, मैं देव-पूजन के उपरान्त आर्य के दर्शनों के लिए उपस्थित होने ही वाली थी।

सम्राट्— आज देव-मन्दिर जाने में तुम्हें थोड़ा विलम्ब हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। सम्भव है, उत्सव की व्यवस्थाओं ने तुम्हें व्यस्त कर रखा हो। (*राजनटी की ओर ध्यान से देखते हैं।*)

राजकुमारी—हाँ, व्यस्तता के कारण ही कुछ आवश्यक प्रश्नों पर मैं परम भट्टारक की अनुमति अभी तक नहीं ले सकी हूँ।

सम्राट्— अनुमति नहीं, सम्मति कहो। तुम्हारे निर्णय जो भी हों, उचित ही होंगे।

(काव्य को उठाकर देखते हैं)

राजकुमारी—यह तो मेरे ऊपर आर्य का अतिशय स्नेह है, जिसके योग्य बनने की अपनी क्षमता में मुझे सदा सन्देह ही रहता है। आज आर्य के सम्मुख मैं एक विशेष निवेदन रखने वाली थी।

सम्राट्— कोई विशेष सूचना ?

राजकुमारी—मेरा प्रस्ताव है कि इस उत्सव की नायिका और गायिका बनें राजनटी देवी विद्युत्…

(सम्राट् काव्य को रखकर चित्र उठा लेते हैं और कुछ देर तक मौन रह जाते हैं। राजनटी संकुचित होकर दूसरी ओर देखने लगती हैं।)

सम्राट्— इस प्रश्न पर अन्तिम शब्द तो तुम्हारी इच्छा ही है।

राजकुमारी—मेरा यह प्रस्ताव राजनटी ने स्वीकार भी कर लिया है।

सम्राट्— उचित ही किया है। *(चित्र रख देते हैं और जाने के लिए घूमते हैं।)* ईश्वर इस उत्सव को सार्थक बनावें।

(जाना चाहते हैं)

राजकुमारी—*(शीघ्रता से उनके सम्मुख जा खड़ी होती हैं।)* तात!… *(वे कुछ कहना चाहती हैं किन्तु कह नहीं पाती हैं और झुककर सम्राट् के चरण पकड़ लेती हैं)* तात !… … *(सिसक उठती हैं।*

सम्राट्— *(उनके मस्तक पर स्नेह से हाथ फेरते हुए।)* अब तो तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए, वत्से ! *(राजकुमारी कोई उत्तर न देकर उनके चरण पकड़े हुए हैं।)* और तुम्हारी प्रसन्नता ही मेरा सन्तोष है। …

राजकुमारी—*(भावनावरुद्ध कण्ठ से)* तात ! मुझे आशीर्वाद दें कि मैं आपकी दी हुई शिक्षा को सार्थक कर सकूँ ....

सम्राट्— *(उन्हें उठाने की चेष्टा करते हुए)* शिक्षा तो अब मुझे तुम्हीं से पानी है, वत्से। कभी-कभी मैं भूल जाया करता हूँ कि मेरी पुत्री कैसी विदुषी है, किन्तु विदुषी पुत्री पर उचित गर्व करना मैं कभी नहीं भूलता। महाराज जनक को अपनी स्वाभिमानिनी कन्या सीता पर, गिरिराज हिमालय को अपनी हठी पुत्री पार्वती पर कितना गर्व रहा होगा, इसका थोड़ा-थोड़ा

अनुभव सीता और पार्वती के चरण-चिह्नों पर चला करने वाली तुम्हें पाकर मैं भी किया करता हूँ। *(वे फिर राजकुमारी को उठाना चाहते हैं, किंतु वे उनके चरण पकड़े सिसक ही रही हैं)* देखो न, कितने दिनों से सोच रहा हूँ कि सब कुछ छोड़ तुम्हारे साथ बैठ प्राचीन शास्त्रों की जटिल मर्यादाओं पर थोड़ा चिन्तन करूँ, किन्तु समय ही नहीं मिलता। अच्छा, यह उत्सव समाप्त हो जाने दो, फिर पिता-पुत्री दोनों बैठकर अनेक प्रश्नों पर बहुत-सी बातें करेंगे। पिता शंकाएँ रखेगा, पुत्री समाधान खोजेगी। क्यों, है न ?…अरे… *(राजकुमारी संज्ञाहत-सी हो जाती हैं।)* वत्से !… विद्या ! … मूर्च्छित ? … जल !… कौन है ?…जल लाओ !…. *(राजनटी जल लाने के लिए दौड़ती हुई आती हैं। नन्दिनी और वन्दिता दौड़ी हुई आती हैं और राजकुमारी के मुख पर जल के छींटे देती है।)*

राजनटी —*(व्यजन डुलाती हुई)* राजकुमारी अभी थोड़ी ही देर पहले तो हँस-बोल रही थीं। इतने में ही यह क्या हो गया इन्हें ?

सम्राट— जो बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था। दासी, आचार्य धन्वन्तरि को सूचना दो !

(सम्राट् राजकुमारी को उठाकर एक आसन पर लिटाते हैं। वन्दिता दौड़ती हुई बाहर जाती हैं। नन्दिनी उन्हें व्यजन डुलाती है। राजनटी उनके तलवे सहलाती हुई उनके चरणों पर अपना मस्तक रख देती हैं।

(पट-क्षेप)

उत्तरार्ध

प्रथम-दृश्य

(रामगिरि आश्रम का वही पूर्व-स्थान । कालिदास एक पाषाण-शिला पर बैठे एक ग्रन्थ पढ़ रहे हैं । पास ही और कई ग्रन्थ पड़े हैं । वे हाथ का ग्रन्थ रखकर दूसरा ग्रंथ उठाते हैं और उसे पढ़ने लगते हैं । एक लाठी टेकते किंचित् लँगड़ाते हुए मुद्रक का प्रवेश । एक पाँव में पट्टी बँधी हुई है ।)

कालिदास—*(मुद्रक को एक बार देखकर फिर ग्रन्थ पढ़ते हुए)* क्यों, मुद्रक ? कैसा है पाँव तुम्हारा ? व्यथा दूर नहीं हो रही है ?

मुद्रक — अब तो देवी सीता का आशीर्वाद हो और भगवती पार्वती कृपा करें तभी यह व्यथा दूर हो ।

कालिदास—सचमुच वह कुण्ड दूर है और उसका पथ दुर्गम । अब मेरे साथ तुम वहाँ मत जाया करो ।

मुद्रक — आर्य जायें और मैं न जाऊँ, ऐसा कैसे हो सकता है ? हाँ... मैं आर्य को कुछ स्मरण दिलाने आया था, किन्तु क्या स्मरण दिलाने आया था, वह तो···देखिए न...भूल ही गया ।

कालिदास—अब अपनी अवस्था और स्वास्थ्य का ध्यान तो तुमको रखना ही चाहिए, मुद्रक ।

मुद्रक — इसका ध्यान तो अब देवी सीता और भगवती पार्वती ही रखें ।

कालिदास—देवियों और भगवतियों पर ऐसी श्रद्धा किसी दिन तुम्हें महँगी पड़ेगी ।

मुद्रक — जो महँगी पड़े वही श्रद्धा काम की होती है, ऐसा राजकुमारी को कहते हुए मैंने प्रायः सुना है ।

कालिदास—राजकुमारी विदुषी हैं । वह जो कुछ कहा करती हैं, वह सदा सबसे काम का नहीं होता ।

मुद्रक — विदुषी की बातें कब किसके काम की होती हैं, इसका विचार विद्वान् ही कर सकते हैं, आर्य । मैं तो मूर्ख हूँ ।

कालिदास—तुम पागल हो । *(फिर ग्रन्थ पढ़ने लगते हैं ।)*

मुद्रक — मैं थोड़ा पागल न होता तो, क्षमा करें, एक कवि की सेवा का अधिकारी बनता ही कैसे ?

कालिदास—(*ग्रन्थ पढ़ते हुए ही*) तुम्हारे मत से कवि पागल हुआ करते हैं ?

मुद्रक — शिव ! शिव ! यह कब कहा मैंने ? हाँ, जैसे महाराज रामचन्द्र की सेवा के लिए बन्दर-भालुओं की और भगवान शंकर की सेवा के लिए भूत-पिशाचों की आवश्यकता रही है, वैसे ही कवियों की सेवा के लिए भी पागलों की आवश्यकता होती है, यह मत····

कालिदास—····राजकुमारी का है ?

मुद्रक — नहीं, यह मत मेरा अपना है।

कालिदास—तुम्हारा अपना भी कोई मत है, यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई, मुद्रक। किन्तु इस मत के चलते तुम कहीं सदा के लिए लँगड़े न बन जाओ, मुझे इसी का भय है।

मुद्रक — मैं लँगड़ाता हुआ भी आर्य के मुख से सीता और पार्वती की पावन कथाएँ थोड़ी सुनता-समझता रहूँ तो इसे अपना सौभाग्य मानूँगा।

कालिदास—मेरे मुख से ?

मुद्रक — मैं तो जल और वर्षा की भाषा नहीं जानता। मुझे तो आर्य की भाषा में ही वे कथाएँ सुननी-समझनी हैं।

कालिदास—तुम्हारी यह इच्छा पूरी कर सकता तो मुझे हर्ष होता, मुद्रक। किन्तु सीता और पार्वती की कथाओं के योग्य भाषा मेरे पास है या नहीं, कभी होगी या नहीं···यह सोचना पड़ेगा।

मुद्रक — आर्य की लेखनी के लिए कौन-सी भाषा कठिन है ?

कालिदास—मेरी रुचि और राग का एक अपना लोक है। उससे बाहर जाकर मेरी लेखनी कोई रस पा या दे सकेगी, मुझे इसमें सन्देह है।

मुद्रक — आपकी लेखनी पर अनेक अलौकिक रस शीघ्र ही बरसने वाले हैं, यह राजकुमारी का विश्वास है। आर्य कोई नया काव्य लिखने जा रहे हैं ?

कालिदास—कुछ लिखना है ऐसा प्रतीत तो हो रहा है, किन्तु क्या लिखना है यह स्पष्ट नहीं हो रहा।

मुद्रक — धुँधले प्रकाश में अबाध प्रेरणा से लिखा गया काव्य ही उत्तम होता है, यह मैंने राजकुमारी के मुख से प्रायः सुना है।

कालिदास—राजकुमारी की परिभाषा का काव्य लिखना मेरे वश का है या नहीं, यह भी मेरे लिए एक प्रश्न ही है।

मुद्रक — इस प्रश्न का उत्तर मैं जानता हूँ, आर्य !

कालिदास — तुम जानते हो ? ···क्या है वह उत्तर ?

मुद्रक — (*मुसकराता है*) वह एक रहस्य है !

कालिदास — रहस्य ? कैसा रहस्य ?

मुद्रक — जो देवता की कृपा से राजकुमारीं पूर्णतः जानती हैं और राजकुमारी की कृपा से थोड़ा-थोड़ा मैं भी।

कालिदास — मैं रहस्यों में विश्वास नहीं करता। रहस्य केवल कथाओं को सजा सकते हैं, यथार्थ को सुलझा नहीं सकते !

मुद्रक — ऐसा आर्य कभी-कभी सोचा करते हैं, यह भी राजकुमारी ने मुझे बता रखा है।

कालिदास — (*चिढ़कर*) यदि यह सब थोड़ा-बहुत राजकुमारी मुझे भी बताया करतीं तो मैं उनका उपकार मानता।

मुद्रक — राजकुमारी विदुषी हैं न ? कब किसे क्या बताना या नहीं बताना उपकारी होता है, यह वे जानती हैं।

कालिदास — राजकुमारी का इतना सब कुछ जानना ही तो मेरी सबसे बड़ी कठिनाई है। उनकी जानकारी थोड़ी कम होती, ती मेरी स्थिति अधिक सरल हो जाती।

मुद्रक — सरल स्थिति में महाकाव्यों की रचना नही होती, यह भी एक बार ···

कालिदास — ····राजकुमारी ने तुमसे कहा था। है न ? राजकुमारी की कही हुई बातें तुम अपने मन में ही रखो तो अच्छा हो, मुद्रक।

मुद्रक — राजकुमारी की भी यही आज्ञा है, आर्य। किन्तु मैं थोड़ा पागल जो हूँ। (*द्वारपाल का प्रवेश*)

द्वारपाल — महाबलाधिकृत की जय हो। शासन-परामर्श-मण्डल के माननीय सदस्य मंत्रणा-भवन में आर्य की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

कालिदास — इस समय ? क्यों ?

मुद्रक — हाँ हाँ ! मण्डल का अधिवेशन प्रत्येक मास हुआ करता है न ? आषाढ़ मास का अधिवेशन आज होने को है, आर्य को यही स्मरण दिलाने तो मैं आया था।

कालिदास — आषाढ़ मास शासन-परामर्श मण्डल के अधिवेशनों के लिए हुआ करता है ? प्रथम वर्षा के आर्द्र स्पर्श से पुलकित ऐसे स्वप्निल क्षण शुष्क शासनके नीरस परामर्शों के लिए हुआ करते हैं ?···सदस्यों से

कह दो कि अभी मैं व्यस्त हूँ। (*एक ग्रन्थ उठाकर पढ़ने लगते हैं।*)

मुद्रक — तब तो वे आर्य की और भी लम्बी प्रतीक्षा करेंगे।

कालिदास —नहीं। प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं। उनसे कह दो कि आज मैं अस्वस्थ हूँ।

मुद्रक — तब तो वे आर्य की समुचित चिकित्सा के आवश्यक प्रबन्धों के लिए इसी क्षण यहीं आना चाहेंगे।

कालिदास —तो फिर उनसे वही कह दो जो कि सत्य है। कवि के पास शासन के लिए अभी न तो समय है न इच्छा····जाओ।

मुद्रक — ठीक है, आर्य। एकबार राजकुमारी ने भी......(*कालिदास उसकी ओर क्रोध से देखते हैं।*) ···जो आज्ञा!

(*मुद्रक लँगड़ाता हुआ जाता है। द्वारपाल भी उसके पीछे जाता है। कालिदास कुछ देर तक ग्रन्थ पढ़ते हैं, फिर उसे रख कर खड़े हो जाते हैं और टहलने लगते हैं।*)

कालिदास —कभी कहा था
मुझसे राजकुमारी ने,
जब
रोमाञ्चक स्मृतियों को
शत-तंत्री वीणा पर
प्रखर कल्पना की
पुलकित अंगुलियाँ
रस-संवाद-विवाद भरा
कोई मर्यादामय,
लयबद्ध
राग छेड़ा करती हैं,
तभी,
कहीं कोई भी
सार्थक काव्य रचित होता है।····
सार्थक काव्य!····
सोचना होगा
सार्थकता क्या है मेरे काव्यों की?

(ग्रन्थों को एक-एक कर उठाकर देखते है ।)
ऋषि-कन्या शकुन्तला,
सुर-बाला उर्वशी,
नटी मालविका,
और अन्त में

अलका की वह एक यक्षिणी, (ग्रन्थों को रख देते है)
और सभी के पीछे से
वह स्निग्ध रोष की
एक मूर्त जीवित प्रतिमा,
जो
मेरे काव्य-मार्ग पर
मेरे पीछे
वहुत दूर से
अविकल गति से
नाना वेषों में
अगणित छन्दों में
अपनी नव छवि से, नव-स्वर से
मुझे स्फूर्ति देती,
मेरी भर्त्सना करती-सी
चली आ रही
और आज
मानों मेरा पथ वाधित कर
जो चाह रही
मुझको कुछ स्मरण दिलाना
सार्थकता का कोई अर्थ मुझे समझाना,
क्या है वह स्मृति ?
सूनूँ,
अर्थ क्या है वह ?
समझूँ ।
मेरी रुष्ट प्रेरणे !
बोलो,
क्या है ?

(लता-गुल्म से राजनटी विद्युत् की आकृति की एक नारी का नटी-वेष में प्रवेश)

नटी — नमस्कार, कवि।
तुमने स्मरण किया…
कैसे यह दुर्लभ कृपा
आज सहसा ?…

कालिदास— …विद्युत् !

नटी — …पहचाना नहीं मुझे ?
मैं उज्जयिनी के रंगमञ्च पर
राजनटी विद्युत् द्वारा अभिनीता
विदिशा की मालविका !

कालिदास— मालविके !
तुम !…

मालविका— …हाँ।
जिस मानमयी की
कभी कल्पनाएँ करके
तुम पुनः पुनः पुलकित होते,
अब अपनी
उसी विस्मृता
मालविका का
नमस्कार स्वीकार करो,
कवि !…

कालिदास— …सत्य !
आज तो अकस्मात् ही
काव्य-मार्ग पर
पीछे छूट गये
अनेक प्रिय रस-चिह्नों का
और विविध भावों से
आप्लावित पुलकित
कुछ मधुर क्षणों का
स्मरण मुझे हो आया।
लगा कि

वे मुझको,
कुछ विगत सुनाना,
बोध कराना
चाह रहे हैं,
क्या यह मेरी मात्र भ्रान्ति है ?

मालविका— भ्रान्ति नहीं,
परन्तु फिर भी
कुछ अप्रिय स्मृतियों का,
कटु सत्यों का
कठोर आमंत्रण तो
हो ही सकता है।

कालिदास— तो ऐसा ही हो,
मालविके !
कहो,
तुम्हें भी क्या कुछ अप्रिय कटु कठोर कहना है ?

मालविका— यदि
कहलाना ही चाहो तो,
एक प्रश्न पूछूं ?···

कालिदास— ····पूछो !
अवश्य पूछो !

मालविका— यदि प्रश्न अशिष्ट न हो
तो पूछूँ···,
कवि,
क्या तुमने
अपने काव्यों में
विवाह-मण्डप को
मात्र मञ्च
इन्द्रिय-विलास का
नहीं बनाया ?
अब तक,
अथ से इति तक,
काव्य-कला

विलास-विकला ही,
कहो,
रही क्या नहीं तुम्हारी ?

कालिदास — मालविके !
विदिशा-नरेश की परिणीते !
तुम पूछ रही यह ?···

मालविका — ···मैं ही पूछ रही हूँ,
स्मरण करो,
सोचो,
विदिशा में
मेरे परिणय का नाटक रच कर
तुमने
पौरुष की
चिर-अतृप्त
चिर-विकल,
विलास-पिपासा को ही
नारी-यौवन-मदिरा-पात्र-मात्र-सी
मुझे
समर्पित नहीं किया था ?

कालिदास — परिणय !···
परिणय होता क्या है ?
शास्त्र-विहित विलास ही तो ?
विलास-वञ्चित परिणय भी
कभी किसी ने कहीं सुना है ?

मालविका — माना,
नहीं कहीं होता
विलास-वर्जन परिणय में,
पर
निमित्त परिणय का
क्या विलास ही होता ?
परिणय का पथ हो विलास,
पर वही लक्ष्य भी होता है क्या ?···

कालिदास — ·· अनुचित प्रश्न नहीं है ।

किन्तु
प्रश्न यह है शास्त्रों का।
इसे काव्य ने
अपना प्रश्न
कभी माना है ?

मालविका — नहीं मान कर
इसे प्रश्न अपना
क्या काव्य कभी भी
सार्थक हो सकता है ?
कवि,
परिणय
मैं
जिसे मानती,
कोई सहृदय
जिसे मानता,
उस में
एक पुरुष होता है
और एक नारी होती है
और मध्य में उनके
किसी प्रवञ्चक परिणय का
कलुपित व्यवधान नहीं होता है.
उसमें
नारी अपने पति की
एक-मात्र पत्नी बनती है,
मैं भी···मालविका भी···
ऐसा परिणय पाती,
ऐसी पत्नी बनती,
कवि,
क्या मैं इस योग्य नहीं थी ?···
मालविका का ऐसा भाग्य नहीं था ?···
(सिसक उठती है।)

कालिदास— यह ?···
यह कैसा प्रश्न ?···

मालविका — ...प्रश्न अनुचित है ?

कालिदास — ...अनपेक्षित है !

एक पुरुष हो
और अनेक नारियाँ
ऐसा परिणय तो परम्परागत है,
सदा पुरातन ने इसको स्वीकार किया है।

मालविका — कवि,

तुम हाथ हृदय पर रखकर
मेरी ओर देखकर
उत्तर दो—
था प्रश्न पुरातन का,
परम्परा का,
अथवा केवल विलासिता का,
नव-नारी-भोग-बुभुक्षा का,
जब
एक विवाहित राजपुरुष के कर में
एक कुमारी राजनटी को अर्पित कर
मालविका के परिणय-नाटक से
तुमने
अपना अन्तर तृप्त किया था ?
सत्य कहो,
क्या कवि के
अपने प्यासे मन की
किसी अपूर्ण कामना की ही
यह कल्पना
काव्य-परिपूर्ति नहीं थी ?
(मालविका सवेग चली जाती है। कालिदास उसकी ओर बढ़ते हैं।)

कालिदास— मालविके।

यह ...
यह कैसा अभियोग तुम्हारा ?
पूछा ही तो
रुको तनिक।

मेरा उत्तर
सुनती तो जाओ ! ...
किन्तु
पुरुष से प्रश्न पूछ कर
नारी ने उसका उत्तर
क्या कभी सुना है ?
कभी
पुरुष के श्रम पर
धन्यवाद के भी दो शब्द कहे
नारी ने ?
मैंने तो कितने श्रम से चुनकर
मालविका को
विदिशा-नरेश का
प्रौढ़ प्रगाढ़ प्रेम—
मानों अनुभवी रसिकता का
बहुमूल्य
एक उपहार—
दिया था
पर
अरसज्ञा नारी
कभी इसे समझेगी ?
क्या
नारी परिणय को
सदा कुमारी बनकर ही देखेगी,
देख नहीं पायेगी
युवती बनकर ?...

(राजनटी विद्युत् की आकृति में पुष्पालंकृता एक युवती का प्रवेश ।)

युवती — ...युवती से
संकेत तुम्हारा,
कवि,
चर-युवती

सुर-युवती
क्या किसी अप्सरा से है ?

कालिदास — विद्युत् !
तुम विद्युत् ही तो हो ?

युवती — भूल गये,
कवि ?
विद्युत् की आकृति में
अङ्कित रूप प्रणय-परिमूढा एक अप्सरा का ?

कालिदास — तुम !...
उर्वशि ?

उर्वशी — देवलोक से भू-तल पर
एकान्त प्रेम पाने आई जो,
पर दुर्दान्त वासनाओं से
...जो निराश हो लौटी,
वही ! उर्वशी !...

कालिदास — उर्वशि !
अभी-अभी
नारी की-असन्तोष-झंझा,
मुझको झकझोर गई है ।
रोष अप्सरा का मुझपर
अब कुछ तुम भी
बरसा ही डाला ।

उर्वशी — रोष नहीं,
नैराश्य एक
मेरे अन्तर में
मेरे विश्वासों का
श्वास-रोध करता-सा
छाया हुआ युगों से ।
कभी-कभी
सोचा करती
क्या कोई कथाकार,
कोई कवि,
मेरा यह दुःसह दुर्वह नैराश्य समझ पायेगा ?

कालिदास — उर्वशि !

मुझे स्मरण है,
कभी
तुम्हारे मानव-पति पुरुरवा
तुम से अमित-प्रेम रखते भी
किसी अन्य
रमणी पर
किञ्चित् मुग्ध हुए थे।
किन्तु
पुरुष का अविचल अक्षत प्रेम एक से
और मुग्धता किसी एक दुर्बल क्षण में
क्षण भर की
किसी दूसरी पर
क्या सचमुच ऐसा घोर पाप है,
जिससे हो जाता नैराश्य
अप्सरा को भी ?

उर्वशी — इससे

देव-लोक में तो
नैराश्य नहीं होता है,
मर्त्य-लोक में
किन्तु हुआ करता है
एक अप्सरा को भी। —
देव-लोक में
मैं
युग-युग से —
सुनती आई थी
पृथ्वी की पावन प्रेम-कथाएँ,
प्रायः चर्चा होती वहाँ
अप्सराओं में
मर्त्य-लोक की
निर्मल प्रेम-साधनाओं की
और

सदा मैं कहती
मुझे किसी विधि कभी
शाप-भ्रष्टा होकर भी
देव-लोक से मर्त्य-लोक जाना है
किसी चरित्रवान नर का
पवित्र सम्पूर्ण प्रेम पाने,
उस नर के एक पुत्र की
गर्वमयी जननी बनने,
तब
सभी अप्सराएँ हँस-हँस पड़तीं—
क्या होता है 'चरित्र' ?
किसको कहते 'पवित्र सम्पूर्ण प्रेम' ?
मैं कहती
कभी देख लेना,
परन्तु
क्या देखा सबने ?
मैंने,
अवनी-अम्बर ने ?
मेरे कवि !
मेरे कथाकार !
तुम भी तो इसके साक्षी ही हो।

कालिदास — बनी अप्सरा
चन्द्र-वंश की राज-वधू !
मैं तो इसका सगर्व साक्षी हूँ।

उर्वशी — ...और
तुम्हारी यह सगर्वता ही तो है
मेरा नैराश्य चिरन्तन।
चली स्वर्ग से प्रेम खोजने
फँसी भोग में आ पृथ्वी पर,
ऐसा एक चरित्र नहीं पाया नर का,
जो अमरों की ही भाँति
वासना से अपवित्र नहीं हो।

मेरी कथा लिखी जब तुमने
क्यों
यह मेरी व्यथा नहीं अंकित की ?
लाकर मुझको रङ्ग-मञ्च पर
मेरा लज्जित स्वप्न-भंग
तुमने क्यों नहीं दिखाया ?
क्यों मेरी यह मर्म-वेदना
व्यक्त नहीं की ?
झूठी हैं पृथ्वी की प्रेम-कथाएँ,
भ्रम हैं पार्थिव प्रेम-साधनाएँ,
हैं प्रेम
काव्यमय एक कामना केवल
रूप-पान का,
मांस-भोग का !
गर्वित कवि !
सोचो !
क्या सार्थकता ऐसे काव्यों की
जिनकी छलना से,
जिनकी छाया में,
प्रवञ्चना बनकर
अथवा
प्रवञ्चिता होकर
जग में जीना पड़ा किसी युवती को ?
(*सवेग चली जाती हैं* ।)

कालिदास — कठिन प्रश्न है ।
अपनी किसी काव्य-बाला के
वर्णन में सुषमा के,
शुचिता के,
मृदुता के,
मधुमयता के,
शब्द-चयन में
कभी कृपणता कोई की है मैंने ?
है फिर भी

सबका यह असन्तोष,
यह रोष,
कि जीवन ने इन पर अन्याय किया,
देकर भी स्नेह
नहीं दी श्रद्धा,
और
काव्य भी मेरा
इस पर मौन रहा,
इसका विरोध
मैंने इनके शब्दों में नहीं किया।
परन्तु
क्या सचमुच यह अन्याय बड़ा है?
मूल्य स्नेह का श्रद्धा से
क्या कम होता है?
सोचे कोई,
श्रद्धा-सागर
और
स्नेह-निर्झर
इन दोनों में
जल किसका होता
अधिक मधुर पीने में?…

(विद्युत् की आकृति की एक ऋषि-कन्या का प्रवेश।)

ऋषिकन्या — गान
…मधुर का केवल,
और मौन
जीवन के अन्य रसों पर,
कवि,
क्या यह कविता की
विषयासक्ति नहीं है?

कालिदास — विद्युत्! … …
देखो,

अब इस बार न कह देना,
तुम विद्युत नहीं, और कोई हो।

ऋषिकन्या — विद्युत् नहीं,
किन्तु
विद्युत् से प्रेरित हो
जिसका तुमने गुण-गान किया था
मैं
वह शकुन्तला !

कालिदास — ओ !…
शकुन्तले !
हाँ हाँ, अब पहचाना मैंने,
कभी कण्व ऋषि के आश्रम में
देख यही तापस सुकुमार रूप तो
बोल उठा था मैं—
क्या यह अव्याज मनोहर वपु
विधि ने
इस आश्रम-जीवन के
दुरूह तप-हेतु रचा है ?

शकुन्तला— मुझे स्मरण है,
तुम बोले थे,
किन्तु कहाँ तक बोला था
सद्भाव तुम्हारा
इसमें मुझे सदा सन्देह रहेगा।

कालिदास— क्या ?
सन्देह ?
किन्तु क्यों ?
तुम अति कोमल
तप अतिशय कठोर,
क्या
दोनों बातें सत्य नहीं थीं ?

शकुन्तला— सत्य रही होंगी,
परन्तु उनके पीछे

कोई कल्याण-कामना भी थी,
कवि,
इसका मुझको
विश्वास नहीं है।

कालिदास— क्या कहती हो ?
इसका भी विश्वास कराना होगा ?
मलिन वल्कलों में
अनिन्द्य-सौन्दर्य समेटे
शैवल से अनुविद्ध कमलिनी-सी
जब तुम्हें
प्रथम विस्मित हो देखा मैंने,
तब तुमने मेरी आँखों में
स्रष्टा के प्रति उपालम्भ के
आकुल अश्रु न देखे ?
जब मैंने गाया—
यह निश्चय ही है
लीलामय स्रष्टा की
नारी-रत्न-सृष्टि की
कोई नव-परम्परा,
तब तुमने मेरे स्वर में श्रद्धा की गूँज न पाई ?
जब मैंने पूछा—
अह अनाघ्रात कलिका,
यह रत्न अविद्ध कौन है ?
कौन अनास्वादित रस यह ?
यह है फल किन अखंड पुण्यों का ?
तब मेरे शब्दों से
कोई अकल्याण-कामना
ध्वनित क्या तुम्हें हुई थी ?

शकुन्तला— रहने दो, कवि,
छेड़ रहे क्यों
मेरी दुखती स्मृतियों को ?
क्यों मुझे विवश करते

यह कहने को कि
तुम्हारी रसिक कल्पना को
मेरा अबोध सौन्दर्य
मनोरञ्जन के
अलस क्षणों में
केवल
रति-चिन्तन का आमन्त्रण था ?
क्यों लज्जित करते तुम
मुझको
मेरे
अपने पितृ-सदन में,
अपने पुण्याश्रम में,
अपने एक अतिथि के हाथों
अपने ही कृत्यों से
प्रेरित किये गये
कौमार्य-हरण का
स्मरण दिलाकर ?

क्यों यह सुनना चाह रहे कि
तुम्हारा कामुक काव्य
अन्ततः
चिर-पिपासु पौरुष के
विलासान्ध गान्धर्व-भोग की
कण्टकमयी पुष्प-शैया पर
एक ज्ञान-हीना,
अनुभव-शून्या
ऋषि-कन्या के
अस्पृष्ट अनास्वादित
तन-यौवन के
रोमाञ्चक
आत्म-प्रवञ्चक,
आत्म-समर्पण की
शृङ्गार-कथा,
गौरव-गाथा था ?

(शकुन्तला का कण्ठ अवरुद्ध-सा हो जाता है)

कालिदास— यह ......
यह आज तुम्हारे मुख से
मैं क्या सुनता हूँ,
सुर-युवति-सम्भवे ?
क्या परम्परा-सम्मत
अपना
पुलकित प्रणय-प्रसंग,
लता-वृक्षों को
साक्षी बना
रचित अपना
एकान्त स्वयंवर
सब कुछ भूल गई हो ?
सत्य बताओ,
क्या दुष्यन्त
हृदय से
प्राणों से
तुम पर अनुरक्त नहीं थे ?
क्या धर्मानुसार
आश्रम में
पाणि-ग्रहण तुम्हारा
नहीं किया पौरव-नरेश ने ?

शकुन्तला— पाणि-ग्रहण किया तो था मेरा
आश्रम में
आर्यपुत्र ने
साक्षी बना धर्म को,
किन्तु नामले उसी धर्म का
राज-सभा में
मेरा परित्याग भी किया
उन्हीं ने ।
यदि अनुराग इसे ही कहते हों
तो मैं अनुराग-विहीना ही अच्छी थी ।

यदि परिणाम यही होता हो
ऐसे प्रणयों का,
यदि होता हो
सुलभा नारी से तृप्त हुए नर का
ऐसा ही क्रूर विस्मरण
ऐसा ही कटु तिरस्कार
तो...

कालिदास — तो ..
परन्तु
इसका दोषी तो
नर-नारी रस-भोग नहीं था,
दोषी था
केवल दुर्भाग्य तुम्हारा,
तुम्हें बताया था मैंने,
शकुन्तले !
यह था
तुम पर रुष्ट हुए
ऋषि दुर्वासा का शाप....

शकुन्तला — शाप ?
मिथ्या !
मेरी लज्जा को ढकने के निमित्त,
कवि,
मात्र तुम्हारी नाट्य-कल्पना-विरचित
एक आवरण !
दोषी तो,
यह तुम्हें विदित है,
कवि,
मेरा अपना ही
घोर पाप था ।

कालिदास— पाप तुम्हारा ?
यह तुम क्या कहती हो ?

शकुन्तला— वही
जो कि
निर्मम, निर्भय हो
स्पष्ट तुम्हें कहना था,
किन्तु रसिकता के विमोह से
अथवा रस-भञ्जन के भय से
जो तुम कह न सके ।····

कालिदास— ···मैं तुम्हें पापिनी कहता ?

शकुन्तला— तुम कहते तो
मुझे सान्त्वना मिलती,
तुम्हें सुयश मिल जाता,
कभी
कहीं
कोई मूढ़ा ऋषि-कन्या
किसी विमोहक राज-पुरुष के
बाहु-पाश में
गिरने से बच जाती !
सोचो !
खण्डित कर
आश्रम की मर्यादाएं,
कलुषित कर
ऋषि-कुल का यश,
मैंने
ईश्वर जाने,
किस कु-प्रवृत्ति से
प्रेरित होकर
अपने जीवन में
क्षण भर के आये
एक अपरिचित के अन्तर में
वर्जित संकेतों से
एक अपावन कामानल
प्रज्वलित कर दिया
और
उसी में फिर
अपने कौमार्य-कुसुम की

आहुति भी
दे डाली !
बोलो,
कवि !
क्या सचमुच
सबके प्रति
अपने प्रति भी
यह मेरा भीषण पाप नहीं था ?

कालिदास— पाप !
नहीं, शकुन्तले !
यह तो यौवन का अदम्य उच्छ्वास,
पुरुष के प्रति
नारी का प्रकृत प्रेम था ।

शकुन्तला— प्रेम !
प्रेम के छल से
कितना पाप,
प्रेम के भ्रम में
कितना आत्म-प्रवञ्चन,
नहीं अभी तक किया
मदान्ध मूढ़ यौवन ने ?
और
इसी दुर्गन्धित प्रेम-पंक में
रसिक-नामधारी
अविचारी रीति-काव्य ने
यौन-वासना के
कितने विष-वृक्ष न बोये ?

कालिदास— प्रेमी यौवन
पापी भी होता है,
यह शकुन्तला का मत ?····
मुझे सोचना होगा···

शकुन्तला— ···सोचो !
कवि, अवश्य सोचो यह,
तुमने
यौवन के

कलंक का यशोगान कर
शकुन्तला-दुष्यन्त-कथा की
व्यथा घटाई नहीं,
बढ़ाई ही है।
सोचो !
जहाँ
निरंकुश पौरुष का गजराज
मृदुल नारी-जीवन के लता-मण्डपों में
उन्मत्त भ्रमण करता फिरता हो,
जहाँ
स्नेह की छाया में
छिप आ बैठा करता हो
भूखा भोग-लोक का नाग
स्वतः
जा गिरती हो
जिसके मुख में
अज्ञान मृगी उपवन की
और जहाँ
बहु-रूपी प्रेम-छद्म में
यौवन-वन के भक्ष्य-भक्षकों के
विलास-सम्बन्धों का ही
होता रहा और होता हो अब भी
सरस मधुर
आख्यान-गान,

(पाषाण-शिला पर रखे ग्रन्थों की ओर संकेत करती हुई)

कवि,
क्या यह
वही तुम्हारा आत्म-प्रशंसित
काव्य-कुंज है ?

(कालिदास ग्रन्थों की ओर देखते हैं। जब वे आँखें घुमाते हैं तब पाते हैं कि शकुन्तला चली गई है। वे शिला पर बैठ जाते हैं और ग्रन्थों को उलट-पुलट कर देखने लगते हैं।)

कालिदास— सच है !
मेरे काव्य-कुंज में
पास-पास
गजराज,
लता-मण्डप,
इस ओर नाग,
उस ओर मृगी,
सब कुछ हैं
पर
वे हैं यथार्थ जीवन के
सत्य प्रकृति के,
जिनमें
इधर वासना है
तो उधर प्रेम भी,
जिनमें प्रकट विकृति भी संस्कृति भी,
अनियम भी,
संयम भी,

जिनमें
यदि रस-लोलुप शरीर ने
एक बार अपराध किया है
तो संतप्त हृदय ने
है सौ बार क्षमा भी माँगी,

जिनमें
अश्रु बहे हैं पीड़ा के,
परन्तु
पश्चात्ताप ने पोंछा भी है उन्हें
स्नेह से।
तो क्या
ऐसे काव्य-कुञ्ज पर
मेरा कला-गर्व
अनुचित है ?

(राजकुमारी विद्या की आकृति में एक तरुणी का प्रवेश । उसके अञ्चल की छाया में एक दीपक झिलमिला रहा है ।)

तरुणी — किसने कहा कि
अनुचित है
यह गर्व तुम्हारा ?
हाँ,
परन्तु वह कैसे
अधिक उचित होता,
कैसे सुन्दर से सुन्दरतर को
विभु से विभुतर को
अङ्कित करता,
अवश्य
यह एक प्रश्न है ।

कालिदास— कौन ?
कौन तुम ?
किसी सुपरिचित मुख का
नया रूप,
पहचानी-सी वाणी का
नूतन स्वर,
तुम
राजकुमारी विद्या ?
नहीं ?
कौन फिर ?
अहा !
यक्षिणी तुम अलका की ?

तरुणी — नहीं,
मुझे पहचान नहीं पाओगे,
कवि,
मैं हूँ
अतीत में खोई
एक भविष्यत् नारी
वर्तमान में

सार्थक जीवन का पथ
खोज रही हूँ
जिज्ञासा का
निष्ठामय लघु दीप जलाकर।

कालिदास— तुम···
तुम तो,
रहस्यमयि,
मानवता की प्रेम-तपस्या-सी
आदर्श-साधना-सी
प्रतीत होती हो,
देवि,
तुम्हारी कुछ सहायता,
कुछ सेवा
मैं कर सकता हूँ ?

इस झीने अञ्चल-तल में
यह लिये अचञ्चल दीप एक
निष्ठा का,
जिज्ञासा का,
किस पथ का सन्धान
चलीं करने तुम,
सुन्दरि ?···

तरुणी — ···जीवन के
ऐसे पथ का
जिस पर चलता अभिमानी प्रेम
भटकता फिरे
वेदना के करील-वन में
परन्तु
वह कभी भोग के राज-भवन में जा
भिक्षुक बन कर
कर नहीं पसारे,
ऐसे पथ का,
जो ले जाता हो

उस पञ्चवटी में
जहाँ
खड़ा हो पौरुष धनुष लिये
सतीत्व की रक्षा को,
हो जहाँ
सुन्दरी सुकुमारी
सेवा में सतत निरत,
शुभ-संकल्पों की,
ऐसे पथ का
जो पहुँचाता हो
कैलास-शिखर तक,
मानसरोवर तक,
होता हो
जहाँ
सदा संवाद
साधना से समाधिका,
मिलन
लास्य से ताण्डव का
प्रेयस् से श्रेयस् का
रस से तप का,
होता हो जिनसे जन्म
पराक्रम का, प्रज्ञा का····

कालिदास— ···ऐसा पथ ! ···
ऐसा पथ तो ···

तरुणी — ····है इस पृथ्वी पर,
किन्तु
किधर है ?
कौन चला है उस पर ?
कैसे ?
कब ?
मैं निकली यही खोजने।

कालिदास— इस पथ का
इसके पथिकों का

वर्णन तो
वाल्मीकि-व्यास जैसे महान् कवियों ने
अपने काव्यों-आख्यानों में
विविध विधाओं से
वहु-वार किया है,
किन्तु ··· ···

तरुणी — ···किन्तु
वाल्मीकि-व्यास तो ऋषि थे
आर्ष काव्य थे उनके,
थे उनके आख्यान ज्ञान के,
मैं तो चली खोजने
लोक-काव्य के ही पृष्ठों में,
रसमय आख्यानों के अध्यायों में,
प्रेम-लोक का वह पथ,
प्रेमिक की वह प्रेम-तपस्या,
और इसी से
प्रश्न पूछती हूँ
मैं
तुमसे,
इन ग्रन्थों से,
प्रेमिक कवि से,
प्रेम-काव्य से
और
स्वरचित-काव्य-पुलकित कवि के ही
कला-गर्व से ।
(सवेग चली जाती है ।)

(कालिदास उसकी ओर झपट कर बढ़ते हैं किन्तु फिर ठिठक कर खड़े हो जाते हैं ।)

कालिदास— पूछ रही है कविता कवि से
लेकर एक दीप
निष्ठा का,
जिज्ञासा का,

प्रेम-लोक का पथ
किस ओर
किधर है,
कौन चला है उस पर
कैसे ?
क्यों ?
क्या कथा पथिक की ?
कैसी उसकी प्रेम-तपस्या ?
क्या होगा इसका उत्तर ?
सोचूँ तो !····

(आचार्य घटखर्पर का प्रवेश)

घटखर्पर— क्या सोच रहे हैं, महाबलाधिकृत, ऐसी तन्मयता से, इस एकान्त में ?

कालिदास—*(उनका साश्चर्य अभिवादन करते हुए)* आचार्य घटखर्पर ! आप यहाँ इस समय ?

घटखर्पर— क्षमा करेंगे, आपकी व्यस्तता में मैंने बाधा डाली। किन्तु क्या मैं जान सकता हूँ, यह व्यस्तता शासन-चिन्ता की है अथवा काव्य-चिन्तन की ?

कालिदास—अकस्मात् उज्जयिनी से यहाँ ? सभी प्रसन्न तो है वहाँ ?

घटखर्पर— वहाँ की प्रसन्नता का क्या कहना ?···वहाँ तो पूर्णिमा की रात्रि में वर्षा-मंगलोत्सव का ऐसा आयोजन होने जा रहा है जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। इस आयोजन का केन्द्र-बिन्दु बनने जा रहा है आप का ही सन्देश-काव्य मेघदूत। ऐसे अवसर के लिए काव्योचित शब्द क्या होना चाहिए, यह आप ही सोच लें।

कालिदास—किन्तु तब ऐसे अवसर पर आपने यहाँ आने का कष्ट कैसे किया, यह पूछ सकता हूं ?

घटखर्पर— सेवकों का कष्ट सम्राट् की आज्ञा।

कालिदास—सम्राट् ने कोई आज्ञा भेजी है ?

(मुद्रक का प्रवेश)

मुद्रक— आर्य, आपकी आज्ञा सुना दी मैंने परामर्श-मण्डल के सदस्यों को। वे जानना चाहते हैं कि···*(सहसा उसकी दृष्टि जाती है आचार्य घटखर्पर पर और वह घबड़ा कर चुप हो जाता है।)*

घटखर्पर— वे क्या जानना चाहते हैं, मुद्रक ?

मुद्रक— कुछ नहीं···कोई विशेष बात नहीं···केवल···

कालिदास—स्पष्ट कहो, मुद्रक।

मुद्रक — यही कि अब वे फिर कब उपस्थित हों।

घटखर्पर— इसका उत्तर उन्हें मैं दूँगा। उनसे कहो वे मंत्रणा-भवन में मेरी प्रतीक्षा करें। (*मुद्रक अनिश्चित-सा खड़ा रहता है*) जाओ! (*कालिदास का संकेत पाकर वह चला जाता है।*)

कालिदास—क्या आज्ञा है सम्राट् की ?

घटखर्पर— सम्राट् का विचार है, महाबलाधिकृत, कि आपको शासन-कार्य में और अधिक रखना अन्याय होगा, शासन के प्रति भी और आप के प्रति भी। अतः उनकी इच्छा है कि अब आप.... यह है राजाज्ञा। (*उत्तरीय में से आज्ञा-पत्र निकाल कर कालिदास को देते हैं। कालिदास उसे पढ़कर लौटा देते हैं।*)

कालिदास—मैं सम्राट् का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, मुझे मेरी स्वतन्त्रता मिल गई। अब मैं जहाँ चाहूँ जा सकता हूँ, जो चाहूँ कर सकता हूँ। ईश्वर को धन्यवाद !

घटखर्पर— हाँ, ईश्वर की विशेष कृपा कवियों पर रहा करती है, इसमें सन्देह नहीं, नहीं तो···

कालिदास—नहीं तो ? क्या अर्थ ?

घटखर्पर— नहीं तो ऐसे काव्य और चित्र की रचना की प्रेरणा आपको मिलती ही कैसे जिसमें सम्बोधन विवाह को हो, उद्बोधन मुक्त प्रेम को, जिससे पति-धर्म और कवि-कर्म दोनों की ही पूर्ति होती हो, जिस पर मर्यादा और कला दोनों ही मुग्ध हों। मैं आपको बधाई देता हूँ, कवि। आप उज्जयिनी जा कर दो लक्ष्यों को एक बाण से बेधने वाली अपनी इन अद्भुत रचनाओं का मनोवाञ्छित पुरस्कार ग्रहण करें।

कालिदास—पुरस्कार ? कैसा पुरस्कार ?

घटखर्पर — स्वप्नों की सार्थकता का पुरस्कार ··· प्रेरणा के परिणय का पुरस्कार।

कालिदास—यह ··· यह आप क्या कह रहे हैं, आचार्य ? मैं तो कुछ भी नहीं समझता ।

घटखर्पर —समझते हुए भी नहीं समझना एक विशेष काव्यालंकार होता है। वह अलंकार धारण कर आप स्वयम् काव्य के एक आकर्षक पात्र वन उठे हैं, कवि। मैं आपकी जितना प्रशंसा करूँ वह थोड़ी है।

कालिदास—यदि आप का अभिप्राय यह हो कि मेरी कला किसी पुरस्कार की अपेक्षा रखती है तो ··· तो ···

घटखर्पर— यह अभिप्राय मेरा नहीं, मुझसे श्रेष्ठतर कला-मर्मज्ञों का है। मैं तो केवल इसे शब्द दे रहा हूँ, कवि।

कालिदास—यह जिसका भी अभिप्राय हो उसे मैं भ्रान्त सिद्ध करके रहूँगा। मुझमें अनेक दुर्बलताएँ हैं, किन्तु यह नहीं ··· यह नही ··· ····
(मुद्रक का प्रवेश)

घटखर्पर— इसका प्रमाण आप उज्जयिनी जाकर ही दें, कवि। मुद्रक, कवि के उज्जयिनी जाने के लिए रथ प्रस्तुत करने का आदेश दो।

कालिदास—मैं उज्जयिनी नहीं जाऊँगा। मैं तो जाऊँगा ···

घटखर्पर— आपको उज्जयिनी जाना ही होगा।

कालिदास—क्यों जाना ही होगा ? ऐसी तो राजाज्ञा नहीं है।

घटखर्पर— यह परिस्थितियों का आदेश है। उज्जयिनी चिन्तित हो रही है। राजकुमारी अस्वस्थ हैं, ज्वर-ग्रस्त।

कालिदास—राजकुमारी अस्वस्थ हैं ? ज्वर-ग्रस्त ? कब से ?

घटखर्पर— जब से उन्होंने यह समझा है कि यक्षिणी के प्रति यक्ष का प्रेम कैसा है, जब से वे यह सोचने लगी हैं कि उसे उस प्रेम का क्या पुरस्कार मिलना चाहिए।

कालिदास—यह ···· किन्तु यह तो उनकी भ्रान्ति है ···

घटखर्पर— जब से उन्होंने यह निश्चय किया है कि उत्सव के अवसर पर यक्ष और यक्षिणी का मिलन होकर रहेगा और ···

कालिदास— ··· वह ··· किन्तु वह तो केवल एक काव्य-कल्पना थी ···

घटखर्पर— और उस मिलन-नाटक में यक्ष की भूमिका में होंगे कवि कालिदास और यक्षिणी की भूमिका में···

कालिदास—नहीं ···नहीं ···यह नहीं होगा ! मैं यह नहीं होने दूँगा !

घटखर्पर— यही तो देखना है। (*मुद्रक की ओर देखकर*) मुद्रक, मैं सदस्यों से मिलने मन्त्रणा-भवन में जा रहा हूँ। तुम कवि के शीघ्र उज्जयिनी जाने की व्यवस्था करो।

(*सवेग चले जाते हैं*)

मुद्रक — आर्य, राजकुमारी अस्वस्थ हैं ?

कालिदास—ज्वर-ग्रस्त ! हो सकता है, यह···यह मेरा ही अपराध हो।

मुद्रक — तो···तो क्या ?···

कालिदास—क्या मुझसे यही कहने वे अभी आई थीं यहाँ ? ···क्या वे ?···

मुद्रक— ····आई थीं ? ··· यहाँ ?

कालिदास—रथ प्रस्तुत करने का आदेश दो, मुद्रक। मुझे इसी क्षण उज्जयिनी जाना है। अभी ··· (*सवेग चले जाते हैं। मुद्रक भी जाने लगता है, किन्तु लौट कर आता है और पाषाण-शिला पर बिखरे पड़े हुए ग्रन्थों को उठाता है।*)

मुद्रक— देवि सीते ! भगवति पार्वति ! क्या इच्छा है तुम्हारी ?

(*जाता है*)

(पट-क्षेप)

—०:❀:०—

द्वितीय-दृश्य

(समय रात्रि-काल उज्जयिनी के राजभवन में राजकुमारी का कक्ष । नन्दिनी और वन्दिता ओषधियाँ तैयार कर रही हैं ।)

नन्दिनी— उस दिन हठात् मूर्च्छित हो जाने के बाद से राजकुमारी को जो ज्वर आया वह आचार्य धन्वन्तरि की इतनी चेष्टाओं के उपरान्त भी घट नहीं रहा है, कैसा आश्चर्य है ?

वन्दिता— ज्वर घटे भी तो कैसे ? पिछले इतने दिनों से एक क्षण के लिए भी निन्द्रा आई है उन्हें ?

नन्दिनी— निद्रा से तो वे युद्ध ही ठाने बैठी हैं । जब देखो उत्सव की ही चर्चा, राजनटी का ही शृङ्गार । यह क्या हो गया है उन्हें ?

वन्दिता— आचार्य धन्वन्तरि स्पष्ट कहते तो नहीं किन्तु उनकी बातों से प्रतीत होता है कि यह भी एक प्रकार का उन्माद ही है ।

नन्दिनी— राजकुमारी जैसी विदुषी को उन्माद ! इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी ।

वन्दिता— विदुषी भी तो अन्ततः नारी ही होती है । विदुषी का उन्माद साधारण नारी के उन्माद से अधिक प्रबल हो, यह स्वाभाविक ही है ।

नन्दिनी— तब तो नारी का विदुषी होना एक अभिशाप ही है ।

वन्दिता— यह हो या न हो, किन्तु किसी विदुषी के पति का कवि होना निश्चय ही एक अभिशाप है ।

नन्दिनी— किन्तु तब इसका उपाय ? इसका क्या उपाय सोच रहें हैं सम्राट् ?

वन्दिता— उपाय तो एक ही है, यदि सम्राट् वह करें तो ....

नन्दिनी— अर्थात् ?

वन्दिता— चुप ! सम्राट् इधर ही आ रहे हैं ।
(दोनों चुपचाप ओषधियाँ तैयार करने लगती हैं । सम्राट् का प्रवेश)

सम्राट्— कैसी औषधियाँ हैं ये ?

नन्दिनी— राजकुमारी के वक्ष और ललाट पर लगाने के लिए यह है उशीर का शीतल लेप ···

वन्दिता— और अंगों के ताप-हरण के लिए ये मृडाल-वलय।

सम्राट्— आचार्य धन्वन्तरि चले गये ?

नन्दिनी— अभी वे राजकुमारी की नाड़ी-परीक्षा कर रहे हैं।

सम्राट्— राजकुमारी का ज्वर वैसा ही है ?

वन्दिता— आचार्य कह रहे थे जब तक उन्हें निद्रा नहीं आये तब तक ज्वर का घटना कठिन ही है। उसकी ··

सम्राट्— (*चिन्तित भाव से*) निद्रा की व्यवस्था तो करनी ही पड़ेगी। (*नन्दिनी और वन्दिता ओषधियाँ लेकर जाने के लिए तैयार होती है।*)

सम्राट्— आचार्य नाड़ी-परीक्षा कर चुके हों तो उन्हें एक क्षण के लिए इधर भेज देना।

दोनों— जो आज्ञा (*दोनों जाती हैं। सम्राट् चिन्तित भाव से इधर-उधर घूमते हैं*)

सम्राट्— (*स्वतः*) क्या यह मेरी भूल थी कि मैंने अपनी कन्या को विदुषी बनाया ? क्या यह भी मेरी भूल थी कि मैंने उस विदुषी का विवाह एक कवि से कर दिया ? और क्या अब यह फिर मेरी भूल हो रही है कि मैं ······

(*आचार्य धन्वन्तरि का प्रवेश*)

धन्वन्तरि— सम्राट् की जय हो !

सम्राट्— आचार्य, अब कैसा है राजकुमारी का ज्वर ?

धन्वन्तरि— (*झुककर सम्राट् का अभिवादन करते हुए*) ज्वर अभी तो कुछ अधिक ही है, परम भट्टारक, किन्तु उसकी मुझे चिन्ता नहीं है। मुझे चिन्ता हो रही है उनकी अनिद्रा की।

सम्राट्— आपने निद्रा की ओषधि दी तो थी।

धन्वन्तरि— ओषधि व्यर्थ सिद्ध हुई। निद्रा नहीं आई। ज्वर बढ़ गया !

सम्राट्— यह तो एक विचित्र स्थिति है। इसमें ···

धन्वन्तरि— ओषधि को भावनाओं का सहयोग मिलना चाहिए। राजकुमारी की भावनाएँ औषधि को बाधा पहुँचा रही हैं।

सम्राट्— क्यों ? क्या वे स्वस्थ होना ··· ··· ज्वर-मुक्त होना नहीं चाहती ? क्या वे ···

धन्वन्तरि— वे जान-बूझ कर अपना अनिष्ट करना चाहती हैं, यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु उनमें अपने आरोग्य का कोई आग्रह है ऐसा भी प्रतीत नहीं होता। उनके अन्तर में कला-मूल्यों का कोई तीव्र संघर्ष चल रहा है जिसके सामने व्यक्ति के हित-अहित, हर्ष-विषाद का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। और अब यह संघर्ष तर्क के स्तर से नीचे उतर कर भावना के स्तर पर आ पहुँचा है। जब भावनाओं की लहरें तर्क के तटों को डुबोती हुई अन्तस्तल में फैल कर वह निकलती हैं तब ··· ···

सम्राट्— तब ?

धन्वन्तरि— तब उस स्थिति को ही आयुर्वेद उन्माद कहता है।

सम्राट्— राजकुमारी विद्या और उन्माद !

धन्वन्तरि— राजकुमारी प्रतिभाशालिनी हैं और प्रतिभा कब या कैसे उन्माद-ग्रस्त हो जाती है यह कहना कठिन है।

सम्राट्— राजकुमारी की प्रतिभा का मुझे सदा से ही जितना गर्व रहा है उतनी ही चिन्ता भी। यदि गर्व उचित था, तो देखता हूँ, चिन्ता भी अकारण नहीं थी। आचार्य, इस उन्माद का उपचार ?

धन्वन्तरि— राजकुमारी के कला-मूल्यों की शीघ्र स्थापना, अथवा स्थापना सम्भव है इसका उन्हें निश्चित विश्वास।

सम्राट्— वे मूल्य तो काव्य-जगत के हैं, प्रेम-लोक के। उनकी स्थापना तो वह स्रष्टा ही कर सकता है जिसने राजकुमारी को कवि-पति दिया है, वह नियति ही कर सकती है जो कवियों और पतियों को प्रेरणा और प्रकाश दिया करती है। हाँ, वह स्थापना असम्भव नहीं है इसका उचित विश्वास राजकुमारी को दिया जा सकता है, यदि ····

धन्वन्तरि— यदि राजकुमारी का अनुमान हो कि कवि कालिदास और राज-नटी विद्युत् का परस्पर प्रेम है और यदि उनकी मान्यता हो कि उन दोनों का परिणय काव्य के उत्कर्ष के लिए आवश्यक है तो··· तो यह परिणय सम्भव है, क्या इसका विश्वास राजकुमारी को दिया जा सकता है ?

सम्राट्— इस परिणय की सम्भावना का विश्वास ? इस विश्वास से, आपको विश्वास है, राजकुमारी का मनस्ताप बढ़ेगा नहीं, घटेगा ?

धन्वन्तरि— मुझे विश्वास है कि राजकुमारी के सम्मुख प्रश्न इस समय व्यक्तित्व का नहीं कला का है। अपने कवि-पति से जिस बहु-मूल्य कला की उन्हें अपेक्षा है उसके निमित्त कोई भी व्यक्तिगत मूल्य चुकाने के लिए वे केवल इच्छुक ही नहीं आकुल भी हैं। कला का पथ व्यक्ति बाधित करे यही तो है उनका मनस्ताप।

सम्राट्— अपनी पत्नी के वैवाहिक सुख-सम्मान की बलि ग्रहण कर किसी पति की कला विकसित हो सकती है ?

धन्वन्तरि— यह तो नियति जाने, स्रष्टा समझे !

सम्राट्— (*रोष के स्वर में*) किन्तु यह तो, आचार्य, आप, मैं, या विवेकशील कोई भी व्यक्ति ...

धन्वन्तरि— मैं सम्राट् के साथ तर्क करने की क्षमता नहीं रखता। मैंने तो राजकुमारी की चिकित्सा से सम्बन्धित केवल एक प्रश्न पूछा है।

सम्राट्— (*कुछ क्षणों के लिए मौन हो जाते हैं।*) सत्य है ! ... राजकुमारी की चिकित्सा के लिए असम्भव को भी सम्भव बनाना ही पड़ेगा। आचार्य, आप जैसे चाहें उन्हें इसका विश्वास दे सकते हैं।

धन्वन्तरि— सम्राट् के आश्वासन के साथ ?

सम्राट्— एक पिता के आशीर्वाद के साथ।

(*प्रतिहारिणी का प्रवेश।*)

प्रतिहारिणी—सम्राट् की जय हो ! राजकवि आर्य कालिदास सेवा में उपस्थित हैं।

सम्राट्— कालिदास ?....इतना शीघ्र ?

प्रतिहारिणी—वे परम भट्टारक के दर्शनों के प्रार्थी हैं।

सम्राट्— ससम्मान ले आओ उन्हें

(*प्रतिहारिणी जाती है।*)

सम्राट्— मैंने अपने जीवन में अनेक असम्भवों को सम्भव बनते देखा है, किन्तु अब यह .... यह ....

धन्वन्तरि— यह भी सम्राट् की शक्ति से बाहर नहीं है। नियति अनुकूल हो ! स्रष्टा कल्याण करे ! मुझे आज्ञा मिले तो राजकुमारी की निद्रा के लिए विशेष ओषधि की व्यवस्था करूँ।

(*आचार्य धन्वन्तरि सम्राट् का अभिवादन करके जाते हैं। कालिदास का अस्त-व्यस्त वेष में प्रवेश।*

वे क्लान्त और साथ ही चिन्तित प्रतीत होते हैं। वे झुककर सम्राट् को नमस्कार करते हैं)

सम्राट्— (*उन्हें ध्यान से आपादमस्तक देखते हुए*) तुम रुग्ण-से प्रतीत होते हो ?

कालिदास— मेरे पिछले कई दिन नाना द्विविधाओं और दुश्चिन्ताओं में बीते हैं। आचार्य घटखर्पर से सूचना मिली कि....कि राजकुमारी ज्वर-ग्रस्त हो गई हैं। क्या उन्हें .... उन्हें अभी भी ज्वर है ?

सम्राट्— तुम्हें राजकुमारी के ज्वर की सूचना देने के निमित्त तो आचार्य घटखर्पर भेजें नहीं गये थे। उन्होंने क्या कहा तुमसे ?

कालिदास—उन्होंने जो कहा वह...वह सारा तो मैं...मैं समझ नहीं पाया। इतना ही समझ सका कि...कि राजकुमारी अस्वस्थ हो गई हैं। किन्तु अब...अब तो वे स्वस्थ हैं न ?

सम्राट्— पहले यह बताओ कि तुम तो स्वस्थ हो न ?

कालिदास—मैं....मैं अपने को सम्राट् की दृष्टि में अयोग्य शासक और अपनी दृष्टि में असमर्थ कवि पा रहा हूँ। निश्चय ही यह मेरी कोई मूलभूत अस्वस्थता है।

सम्राट्— तुम अयोग्य शासक हो यह तो मुझसे अनेकों ने कहा है। किन्तु तुम असमर्थ कवि भी हो यह तुमसे किसने कहा है ?

कालिदास— मेरे काव्य ने ही कहा है। मेरे काव्य के अनेक प्रमुख पात्रों और पात्राओं ने मेरे निकट आ-आकर कहा है।

सम्राट्— क्या अर्थ ?

कालिदास— उनके कथनों का अर्थ एक वाक्य में यह है कि मैं एक निरर्थक कवि हूँ। मेरा सारा काव्य अर्थहीन है।

सम्राट्— तो क्या तुम....तुम भी इसे स्वीकार करते हो ?

कालिदास—मैंने तो इसे अस्वीकार किया है और करता रहूँगा किन्तु....किन्तु तब प्रतीत होता है कि मुझे अभी तक के अपने सारे काव्य से....उसके सभी चरित्रों से दूर हटकर किसी दूसरी ही दिशा में जाना पड़ेगा। मुझे....

सम्राट्— तुम अपने काव्य और उसके चरित्रों से असन्तुष्ट हो ?

कालिदास—असन्तुष्ट तो मेरा काव्य ही है मुझ पर। मेरी कल्पना के सभी पार्थिव-अपार्थिव चरित्र—देव-देवी, नर-नारी—मुझ पर असन्तुष्ट ही नहीं रुष्ट भी हैं। प्रतीत होता है कि इसके निमित्त मुझे रस-निर्णय के किसी उच्चतर न्यायालय में खड़े होकर अपना स्पष्टी-

करण करना होगा, अपने लिए माँगना होगा कोई नवीन रस-वरदान अथवा....अथवा कोई कठोर काव्य-दण्ड !

सम्राट् —क्या यह भी तुम्हारी एक ललित कल्पना ही है, कवि ?

कालिदास—यह मेरी एक कटु अनुभूति और एक कठोर संकल्प है, परम भट्टारक।

सम्राट् —लगता है तुमने कोई दुःस्वप्न देखा है।

कालिदास—मैं एक क्लेशप्रद जागर्ति से होकर निकल रहा हूँ।

सम्राट् —तुम्हारे अन्तिम काव्य—मेघदूत—से तो ऐसी किसी जागर्ति का आभास नहीं मिलता।

कालिदास—मेघदूत ! *(विषाद की हँसी हँसते हैं)* आषाढ़ का वह प्रथम मेघ तो आया भी और चला भी गया।....*(आकाश में मेध-गर्जन होता है। बिजली चमकती है।)*

सम्राट्— वह तो वारंवार आता है और चला जाता है। किन्तु....

कालिदास—किन्तु वह सदा मौन ही नहीं रहता, कभी-कभी कुछ कह भी जाता है।

सम्राट् —तो....तो मेघ ने तुमसे कुछ कहा ?

कालिदास—हाँ !.. उसने कहा मैं कुकवि हूँ।

सम्राट् —तो फिर तुम सुकवि कैसे बन सकोगे, इसका उसने कोई मार्ग भी बताया।

कालिदास—उसने कहा कुकवि को सुकवि बनाने का मार्ग केवल कवि-कान्ता ही जानती है।

सम्राट् —कवि-कान्ता ?

कालिदास—कवि की काव्य-प्रेरणा !

सम्राट् —तब ?....तब तुमने क्या उत्तर दिया ?

कालिदास—मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही मेघ चला गया। किन्तु मुझे उसका उत्तर देना है, जब भी हो जैसे भी हो उत्तर देना है। ....हाँ....वह उत्तर क्या हो, यह सोचना है मुझे।

सम्राट् —तुम्हारे अभी तक के काव्य में तुम्हारे प्रति मेघ के इस अभियोग का उत्तर नहीं है ?

कालिदास—मेरा अभी तक का काव्य तो स्वयम् मेरे प्रति एक विराट् अभियोग है-—मालविका का....उर्वशी का....शकुन्तला का.... यक्षिणी का....। किन्तु इस अभियोग का उत्तर तो देना ही होगा।

मुझे। मैं क्या उत्तर दूँ, अब यह मुझे पूछना है अपनी काव्य-प्रेरणा से ही।

सम्राट् —अपनी काव्य-प्रेरणा को पूर्णतः पहचानते हो तुम ?

कालिदास—पूर्णतः तो नहीं, अंशतः पहचानता हूँ उसे। वह····

सम्राट् —कैसी है वह ?

कालिदास—वह है···एक सुपरिचित मुख का नया रूप····एक पहचानी-सी वाणी का नया स्वर···मानवता की एक प्रेम-तपस्या····एक आदर्श-साधना···जो अपने झीने अञ्चल-तल में निष्ठा और जिज्ञासा का एक अचञ्चल दीप लिये किसी पथ का सन्धान करती फिर रही है···और····

सम्राट् —किस पथ का अनुसन्धान ?

कालिदास—उस पथ का जिस पर अभिमानी प्रेम चला करता हो···जो पञ्चवटी से होकर कैलास-शिखर तक चला जाता हो···और जो···

सम्राट् —ऐसे सन्धान का उसका प्रयोजन ?

कालिदास—उस पथ पर कौन चला है, कैसे चला है, कब चला है, यह जानने और समझने का उसका कुतूहल। उसके इस कुतूहल का समाधान तो मेरे वश का नहीं है, सम्राट्, किन्तु यदि मैं उसके कुतूहल को ही अपनी जिज्ञासा बना सकूँ तो···तो····

(*मेघ-गर्जन होता है। आकाश में बिजली चमकती है। कालिदास मेघ को देखकर आवेशपूर्वक उसकी ओर संकेत करते हुए*) तो····मेघ !···मित्र मेघ !··· तुम्हारे अभियोग का उत्तर, सम्भव है, मैं तुम्हें दे सकूँ···तुम्हारे मनोवाञ्छित गान, हो सकता है, मैं तुम्हें सुना सकूँ। किन्तु तब, वयस्य, तुमने तो मुझसे कहा था कि···मुझे वचन दिया था कि ··

सम्राट् — वत्स, तुम वास्तव में अस्वस्थ हो। अभी तो, जान पड़ता है, मुझे तुम्हारे उपचार की ही व्यवस्था करनी पड़ेगी।

कालिदास— मेरा उपचार ? ···(*सम्राट् की ओर देखकर अपने आवेश का संयमन करते हुए*) धृष्टता क्षमा हो, कवि का उपचार तो···तो···

सम्राट् — उसकी प्रेरणा ही कर सकती है। सत्य है !···किन्तु तब····

कालिदास— (*नैराश्य के स्वर में*) वह यदि प्रेरणा ही कवि से उदासीन हो, उसकी दुर्बलताओं के प्रति असावधान हो, उसके दोषों का सुधार

करना न चाहे तब उपचार की सम्भावना ही क्या रह जाती है ?

सम्राट् — ये तुम्हारे विचार हैं ?

कालिदास—ये मेघ के विचार थे। अब मेरे विचार भी बनते जा रहे हैं।

सम्राट् — तो....कवि को अपनी प्रेरणा में ही विश्वास नहीं ?

कालिदास—कवि को तो विश्वास है अपनी प्रेरणा में, किन्तु उस प्रेरणा को ही कवि में विश्वास नहीं।

सम्राट् — अपनी प्रेरणा के विश्वास में कवि के अविश्वास का कारण ?

सम्राट् — कारण तो प्रत्यक्ष ही है। वह प्रेरणा कवि को अपना स्वामी तो मानती है किन्तु उसकी स्वामिनी बनना नहीं चाहती। वह कवि के निमित्त स्वयम् त्याग करने की भावना तो रखती है, परन्तु अपने निमित्त कवि से तपस्या कराने की कल्पना नहीं कर सकती। उसके पास देने के लिए प्रेम की अपार निधि है, पर विश्वास के दो कण भी नहीं।

सम्राट् — यह....यह तुम्हारी भ्रान्ति भी तो हो सकती है।

कालिदास — यदि यह मेरी भ्रान्ति ही हो तो भी इसे भंग करने का भार किस पर है ?

सम्राट् — नियति पर ! ....स्रष्टा पर !....क्यों किसी भ्रान्ति का सृजन होता है और कब और कैसे वह भंग होती है, यह कोई भी मनुष्य क्या जाने ?....

(नन्दिनी और वन्दिता का प्रवेश। वे दोनों कालिदास को देखकर क्षण भर के लिए विस्मित-सी रह जाती हैं। फिर नन्दिनी एक शैया का आवरण बदलने लग जाती है। वन्दिता धूप जलाती है।)

सम्राट् — (उन दोनों से) राजकुमारी अन्तःकक्ष में विश्राम कर रही हैं।

नन्दिनी — वे यहीं आकर विश्राम करना चाहती हैं।

सम्राट् — यहाँ ?....क्यों ?

वन्दिता — उनकी किसी भी इच्छा का कोई भी कारण समझ में नहीं आता, परम भट्टारक।

सम्राट् — ज्वर अभी वैसा ही है ?

नन्दिनी— जान पड़ता है कुछ और बढ़ गया है।

सम्राट् — निद्रा का कोई लक्षण ?

वन्दिता— निद्रा तो तब आ सके जब उनके विचारों और शब्दों का प्रवाह रुके।

सम्राट्— उन्हें ओषधि फिर दी गई ?

नन्दिनी— ओषधि के तो नाम से ही उन्हें रोष हो आता है।

सम्राट्— उनकी सेवा में इस समय कौन है ?

वन्दिता— राजनटी देवी विद्युत्।

सम्राट्— आचार्य धन्वन्तरि ने अभी कोई नया आदेश दिया।

नन्दिनी— आचार्य का तो एक ही आदेश है—राजकुमारी की प्रत्येक इच्छा का शीघ्र और पूर्ण पालन होता रहना चाहिए।

सम्राट्— राजकुमारी की कोई विशेष इच्छा ?

वन्दिता— पूर्णिमा की रात्रि में वर्षा-मंगलोत्सव, उस उत्सव में मेघदूत का नृत्य-गान, उसकी नायिका के रूप में राजनटी का शृंगार, इसके अतिरिक्त राजकुमारी की और कोई इच्छा तो इन दिनों सुनी नहीं गई।

सम्राट्— उनकी प्रत्येक इच्छा का पालन होना ही चाहिए। अच्छा, राज-कुमारी को विश्राम के लिए यहीं ले आओ।

(दोनों जाती हैं)

कालिदास—*(वेदनापूर्ण विस्मय के स्वर में)* राजकुमारी इतनी अस्वस्थ हैं ?

सम्राट्— तुम अस्वस्थता क्यों कहते हो इसे ? यह तो काव्य के प्रति उसकी प्रेरणा के प्रेम का ही एक उच्छ्वास है।

कालिदास—किन्तु....किन्तु यह ज्वर ?

सम्राट्— प्रेम भी तो एक प्रकार का ज्वर ही होता है।

कालिदास—किन्तु अनिद्रा तो अविश्वास से ही हुआ करती है। मेरे प्रति राजकुमारी का अविश्वास क्यों ?

सम्राट्— अग्नि और धूम का, प्रेम और अविश्वास का तो चिरन्तन सम्बन्ध होता है, कवि !

कालिदास—होता होगा। किन्तु मुझे तो राजकुमारी से अपने पथ के लिए निर्धूम अग्नि, आश्वस्त प्रेम का पाथेय माँगना है, जो वे ही दे सकती हैं, उन्हें देना ही होगा।....

(कालिदास राजकुमारी के अन्तःकक्ष की ओर बढ़ते हैं। सम्राट् उन्हें रोक लेते हैं।)

सम्राट्— अभी राजकुमारी आचार्य धन्वन्तरि की चिकित्सा में हैं।

आचार्य की अनुमति लिये बिना कोई उनसे नहीं मिल सकता।

कालिदास— किन्तु····किन्तु मैं एक बार उन्हें दूर से ही देख तो ले सकता हूँ ?

सम्राट् — इसके लिए भी आचार्य की ही अनुमति लेनी पड़ेगी। मेरे साथ आओ! *(सम्राट् के पीछे-पीछे अनिच्छुक भाव से कालिदास कक्ष से बाहर जाते हैं। अन्तःकक्ष से राजनटी का सहारा लिये हुए राजकुमारी का प्रवेश। उनके मस्तक पर उशीर का लेप लगा हुआ है। उन्होंने कण्ठ और भुजाओं में मृणाल-वलय पहन रखे हैं। राजनटी बहुमूल्य वस्त्रों और आवरणों से सुसज्जित हैं। नन्दिनी और वन्दिता जल-पात्र, पुष्प-माल्य आदि लिये आती हैं और उन्हें यथास्थान रखती हैं।)*

राजनटी —*(राजकुमारी को शैया पर लिटाती हुई)* अब राजकुमारी विश्राम करें। सारे प्रकाश बुझा दूँ ?

राजकुमारी—अन्धकार में मैं तुम्हारा सौन्दर्य कैसे देख पाऊँगी, विद्युत्, कैसे सोच पाऊँगी कि तुम्हारा कैसा शृंगार करना है मुझे ? मुझे तनिक देखने दो। सोचने दो।

राजनटी —राजकुमारी, आपने मुझे वचन दिया था कि यहाँ आकर आप विश्राम करेंगी। अपना वचन पूरा कीजिए। प्रकाश बुझा दूँ ?

राजकुमारी—बुझाना ही चाहती हो तो बुझा दो, किन्तु उस एक दीप को छोड़कर। वह दीप एक प्रतीक है, मेरी निष्ठा का, मेरी जिज्ञासा का।

राजनटी —*(एक दीप को छोड़कर अन्य सारे प्रकाश बुझाती हुई)* आचार्य धन्वन्तरि का आदेश है कि आपको निद्रा की पूर्ण चेष्टा करनी चाहिए, अतः····

राजकुमारी—तुम भी आचार्य की ही बातें दुहराती हो, विद्युत् ? मैं कैसे समझाऊँ सबको कि मेरी आवश्यकता निद्रा की नहीं है, चिन्तन की है, अपने पथ की खोज की, अपने प्रश्न के समाधान की। तुम जानती हो किधर है वह पथ, क्या है वह प्रश्न ?

राजनटी —*(उनका मस्तक सहलाती हुई)*
कल प्रातःकाल सब कुछ सुनूँगी, राजकुमारी। अभी आप विश्राम करें, थोड़ी निद्रा आने दें।

राजकुमारी—कहीं निष्ठा को भी निद्रा आती है ? जिज्ञासा भी विश्राम करती है ? दीप भी सोता है ? (*उठकर बैठ जाती हैं*) तुम समझती हो, विद्युत, वह दीप क्या खोज रहा है, क्या माँग रहा है ?

राजनटी —उस दीप की खोज सफल होगी, माँग पूरी होगी। किन्तु···· किन्तु अब ये बातें कल होंगी। अभी आप विश्राम करेंगी न, राजकुमारी ?

राजकुमारी—तुम कहती हो तो करूँगी। (*आँखें मूँदती हैं*) करने की चेष्टा करूँगी। किन्तु····(*फिर आँखें खोलती हैं*) किन्तु एक बात तो शेष रह ही गई। (*फिर उठकर बैठ जाती हैं* ।) तुमने वह मेघदूत काव्य ध्यान से पढ़ लिया न ?

राजनटी —पढ़ लिया।

राजकुमारी—और उस चित्र को भी सूक्ष्मता से देखा न ?

राजनटी —देखा।

राजकुमारी—आर्यपुत्र ने अपने काव्य और चित्र के द्वारा मुझे क्या सन्देश भेजा है, यह समझ गईं न ?

राजनटी —समझने की चेष्टा की।

राजकुमारी—तो मुझे आर्यपुत्र को उस सन्देश का प्रति-सन्देश देना है। जानती हो मेरा प्रति-सन्देश क्या होगा, कैसा होगा ?

राजनटी —उसका अवसर आने दें।

राजकुमारी—अवसर तो आ ही पहुँचा है। पूर्णिमा की रात्रि में उत्सव कैसा होगा और उसमें मेरा प्रति-सन्देश क्या होगा, इसकी कल्पना का सारा चित्र मेरी आँखों के सामने है। मैं उस चित्र को देखती रह सकूँ, उसे सजाती रह सकूँ, इसके लिए मुझे अपनी आँखें खुली और सूखी रखनी हैं, इन्हें मुंदने या गीली नहीं होने देना है। इसमें मुझे तुम्हारी सहायता चाहिए, विद्युत्। मेरी सहायता करोगी न ?

राजनटी— आपकी कोई आज्ञा मैंने कभी टाली है, राजकुमारी ? किन्तु···· किन्तु ········

राजकुमारी— किन्तु इसे मेरी आज्ञा नहीं, आकांक्षा समझो। जानती हो क्या है मेरी आकांक्षा ? मेरी आकांक्षा है कि आज से मेरा नीलकंठ मयूर तुम्हारी ही चुटकियों पर नाचे, मेरी पिंजरस्था सारिका तुम्हारी ही हँसी का अनुकरण करे, मेरा पाला हुआ बाल-

मन्दार वृक्ष तुम्हारी अञ्जुलियों से ही रसपान करे। मेरी आकांक्षा है कि वह रुठा हुआ रक्ताशोक तुम्हारे ही चरण-स्पर्श से पुलकित हो लहलहा उठे, वह प्यासा केसर तुम्हारी ही मुख-मदिरा से उन्मत्त हो फूल पड़े। मेरी और भी अनेक आकांक्षाएँ हैं, विद्युत् ····

राजनटी— आप की सारी आकांक्षाएँ ईश्वर पूरी करेंगे, राजकुमारी। किन्तु अभी ईश्वर के नाम पर आप थोड़ा-सा ···· *(उन्हें पुनः लिटाने की चेष्टा करती है।)*

राजकुमारी— विश्राम ! ···· विद्युत्, तुम भी मेरा साथ नहीं दे रही हो ? तुम्हें भी मुझसे सहानुभूति नहीं है ? तुम भी नहीं सुनना चाहतीं कि मेरी आकांक्षाएँ क्या हैं ? नहीं समझना चाहतीं कि मेरे संकल्प क्या हैं ? क्या तुम भी सोच रही हो कि मैं उन्मादिनी हो गई हूँ, यह मेरा उन्मत्त प्रलाप है ?···

(आचार्य धन्वन्तरि के साथ सम्राट् का प्रवेश।)

सम्राट्— कौन सोच रहा है कि तुम उन्मादिनी हो गई हो या यह तुम्हारा उन्मत्त प्रलाप है ? मेरी ओर देखो। मैं तो ऐसा नहीं सोचता।

राजकुमारी— *(उठने की चेष्टा करती हुई)* तात ! मैं अपनी निष्ठा का, जिज्ञासा का, आकांक्षाओं का, संकल्पों का कैसे विश्वास दिलाऊँ आप को ···· ?

सम्राट्— *(उन्हें उठने से रोकते हुए)* मुझे तो पूर्ण विश्वास है, वत्से। हाँ, मैं अपनी ओर से तुम्हें भी एक विश्वास दिलाना चाहता हूँ। विश्वास करोगी ?

राजकुमारी— *(लेटती हुई)* मैंने आपकी किस बात का कब अविश्वास किया है, तात ?

सम्राट्— तो आज एक बार फिर मेरी एक बात का विश्वास करो। कहूँ वह बात ? सुनोगी ?

राजकुमारी— मैं सुन रही हूँ।

सम्राट्— तो सुनो····और विश्वास करो ! सार्थक होकर रहेगी तुम्हारी निष्ठा। सफल होकर रहेगी तुम्हारी जिज्ञासा। फलवती होगी तुम्हारी आकांक्षा। सिद्ध होगा तुम्हारा संकल्प। वत्से, यदि तुम्हें मेरे स्नेह में विश्वास है तो मेरे वचनों पर भी विश्वास करो।

राजकुमारी— विश्वास ! ···· किन्तु मुझे ···· मुझे अपने में ही विश्वास नहीं हो रहा है, तात ···· ····

सम्राट्— सम्राट् विक्रमादित्य की पुत्री को, कवि कालिदास की पत्नी को, राजकुमारी विद्या को अपने में विश्वास करना ही होगा। तुम्हारा विश्वास नियति को भी वाध्य कर सकता है, स्रष्टा को भी विवश कर सकता है कि काव्य में एक नया पथ खुले, जीवन को एक नई दिशा मिले। तुम्हारा विश्वास असम्भव को भी सम्भव बना दे सकता है !

राजकुमारी—असम्भव को भी सम्भव बना दे सकता है ? ····तो····तो यदि मैं चाहूँ कि····कि पूर्णिमा की रात्रि में····उत्सव के अवसर पर आर्यपुत्र के काव्य और विद्युत् की कला इन दोनों का········ दोनों का········

सम्राट् — तुम जो कुछ चाहोगी वह सभी सम्भव होगा, वत्से ! यह तुम्हें सम्राट् के रूप में मेरा आश्वासन है, पिता के रूप में तुम्हें मेरा आशीर्वाद !····

राजकुमारी— तात !····(*आह्लादपूर्वक उनका हाथ पकड़ लेती हैं*) तात्····यह····यह आप कह रहे हैं ?

सम्राट् — हाँ ! यह मैं ही कह रहा हूं। किन्तु तब मैं यह भी कह रहा हूँ····और ध्यान से सुनो इसे····कि तुम्हारा क्या चाहना तुम्हारे और सभी के लिए शुभ और शोभनीय होगा यह समझने के लिए तुम्हें चाहिए विश्राम और उस विश्राम के लिए तुम्हें चाहिए निद्रा !····

राजकुमारी— निद्रा ?

सम्राट् — हाँ····और उस निद्रा के लिए तुम्हें चाहिए ओषधि !····

राजकुमारी— ओषधि ?

सम्राट् — मैं तुम्हें तुम्हारा खोया हुआ विश्वास लौटाने आया हूँ। यह ओषधि ही तुम्हें वह विश्वास देगी।····आचार्य, राजकुमारी को निद्रा की ओषधि दें।

(*आचार्य धन्वन्तरि ओषधि निकालते हैं।*)

राजकुमारी— किन्तु ओषधि से क्या होगा, तात ?

सम्राट् — तुम्हारी भावनाओं का सहयोग मिले तो ओषधि से क्या नहीं हो सकता ? (*आचार्य धन्वन्तरि ओषधि राजनटी को देते हैं। राजनटी राजकुमारी को ओषधि खिलाती हैं*)

राजकुमारी— (*ओषधि खाकर लेटती हुई*) अब तो तात सन्तुष्ट हो गये न ?

सम्राट् — मैं सन्तुष्ट हूँ कि असम्भव भी सम्भव बन कर रहेगा। और अब····अब मैं यह विश्वास लेकर जा रहा हूँ कि तुमने मेरी बातों का विश्वास किया है और तुम्हारा खोया हुआ विश्वास तुम्हें फिर मिलेगा। (*आशीर्वाद के भाव से उनके मस्तक पर हाथ फेरते हैं।*)

धन्वन्तरि — (*उनके ललाट पर एक ओषधि लगाते हुए*) ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !····

(*राजनटी राजकुमारी को एक आवरण उढ़ाती है। नन्दिनी और वन्दिता वातायनों पर चीनांशुक के परदे खींच देती हैं। राजनटी को संकेतों के द्वारा कोई आदेश देकर सम्राट् और आचार्य धन्वन्तरि चले जाते हैं। दूसरी ओर से कालिदास का प्रवेश। कालिदास राजकुमारी की शैया के निकट उनके मस्तक की ओर जाकर खड़े होते हैं, जिससे वे तो राजकुमारी को देखें, किन्तु राजकुमारी उन्हें न देख सकें। राजनटी कालिदास को देखती है, किन्तु बोलती कुछ नहीं। वे राजकुमारी के निकट खड़ी होकर एक व्यजन डुलाती हैं। नन्दिनी और वन्दिता चली जाती हैं। राजकुमारी थोड़ी देर तक निश्चेष्ट पड़ी रहती हैं, किन्तु फिर उठकर बैठने की चेष्टा करती हैं। राजनटी उन्हें बैठने से रोक कर फिर सुलाती हैं।*)

राजनटी — विश्राम करें, राजकुमारी।

राजकुमारी—विद्युत् ! ······विद्युत् !

राजनटी — आज्ञा ?

राजकुमारी—सभी चले गये ?

राजनटी — हाँ, राजकुमारी ? किसी को बुलाऊँ ?

राजकुमारी—नहीं, नहीं। यहाँ········यहाँ और तो कोई नहीं है न ?

राजनटी — (*कालिदास की ओर देखकर*) नहीं, और कोई नहीं है।

राजकुमारी—विद्युत्, यह ओषधि तो विचित्र है;···· अत्यन्त विचित्र है···

राजनटी — निद्रा आ रही है ?

राजकुमारी—निद्रा ? ···· हाँ ··· नहीं···निद्रा तो नहीं···पर एक विचित्र भ्रान्ति-सी हो रही है मुझे।

राजनटी — कैसी भ्रान्ति, राजकुमारी ?

राजकुमारी—तुम उसे सुनकर हँसोगी···तुम हँसोगी तो नहीं, विद्युत् ?

राजनटी — ऐसी धृष्टता मैंने कभी की है ?

राजकुमारी—तो···तो सुनो। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है मानों आर्यपुत्र मेरे अत्यन्त निकट आकर खड़े हो गये हों और मानों वे मुझसे कुछ कहना चाह रहे हों········

राजनटी — (*कालिदास को फिर देखकर*) हो सकता है यह भ्रान्ति न होकर किसी अर्थ में सत्य ही हो।

राजकुमारी—सत्य ?···यदि यह सत्य हो तो फिर कल्पना किसे कहेंगे ? ···· अच्छा, आर्यपुत्र मुझ से क्या कहना चाहते हैं तुम इसकी कल्पना कर सकती हो, विद्युत् ?

राजनटी — इसकी तो आप ही कल्पना करें !

राजकुमारी—मैं ? ···· मैं कवियित्री तो नहीं हूँ, फिर भी मुझे उनके विचार मानों काव्य-बद्ध से सुनाई पड़ रहे हैं, मानों ···· मानों वे कह रहे हैं ······

पूछ रही है कविता कवि से
लेकर दीप एक
निष्ठा का,
जिज्ञासा का,
प्रेम-लोक का पथ
किस ओर
किधर है,
कौन चला है उस पर
कैसे ?
क्यों ?
क्या कथा पथिक की ?
कैसी उसकी प्रेम-तपस्या ?
क्या होगा इसका उत्तर ?
सोचूँ तो ······

विद्युत्, मुझे स्पष्ट सुनाई पड़ रहा है, मानों आर्य पुत्र बार-

वार कह रहे हैं—"सोचूँ तो···सोचूँ तो···सोचूँ तो ··· क्या यह सत्य हो सकता है ?

राजनटी — देवी सीता और भगवती पार्वती का आशीर्वाद हो तो सब कुछ सत्य हो सकता है, राजकुमारी।

राजकुमारी—किन्तु यदि यह सत्य हो तो क्या वह उलाहना भी सत्य है जो आर्यपुत्र अभी मुझे दे रहे हैं ?

राजनटी — क्या है वह उलाहना ?

राजकुमारी—उनका उलाहना है—क्यों तुम मेरी स्वामिनी नहीं बनना चाहती? ····क्यों तुम मुझसे तपस्या कराने की कल्पना नहीं कर सकती ?··· क्यों तुम्हारे पास मुझे देने के लिए विश्वास के दो कण भी नहीं हैं ?···· क्या यह भी सत्य हो सकता है ?

राजनटी — यह उलाहना असत्य तो प्रतीत नहीं होता !

राजकुमारी—किन्तु यह तो असत्य है ·· सचमुच असत्य ही है··· आर्यपुत्र ने कब दिया मुझे अधिकार स्वामिनी बनने का ?···· उनसे तपस्या कराने का ? ····विश्वास देने या न देने का ? क्या आर्यपुत्र केवल उलाहना देना जानते हैं, उस पर विचार करना नहीं जानते ?

राजनटी — वे अवश्य विचार करेंगे, राजकुमारी।

राजकुमारी—किन्तु कब ?

राजनटी — बहुत शीघ्र ! आप उनकी प्रतीक्षा करें।

राजकुमारी—प्रतीक्षा ! ·· किन्तु मुझे तो ···· मुझे तो निद्रा आ रही है।

राजनटी — तो निद्रा में ही स्वप्न बन कर वे आपको दर्शन देंगे।

राजकुमारी—किन्तु मैं तो उनके दर्शन स्वप्न में नहीं साक्षात् करना चाहती हूँ ····मैं उन्हें देखना चाहती हूँ ···· उनसे बातें करना चाहती हूँ ····मैं····मैं सोना नहीं चाहती···· सोना नहीं चाहती····सोना नहीं चाहती····(*राजकुमारी सो जाती हैं। कालिदास उनके सम्मुख जाकर उनका मस्तक सहलाते हैं और उनका हाथ अपने हाथों में ले लेते हैं। राजनटी कालिदास की ओर बिना देखे, उनसे बिना कुछ बोले चुपचाप दीप-स्तम्भ के पास जाती हैं और उस पर जलते हुए एकाकी दीप को लेकर बाहर चली जाती हैं। कालिदास राजकुमारी के वक्ष पर अपना मस्तक रखते है। सघन अन्धकार हो जाता है। मृदु-*

स्वर में कोई अत्यन्त करुण रागिनी बजने लगती है जिसमें एक स्वर है वीणा का और दूसरा स्वर वंशी का। जान पड़ता है वीणा और वंशी में कोई प्रेम-विवाद छिड़ जाता है। संगीत का लय पहले द्रुत, फिर मध्य, फिर विलम्बित। धीरे-धीरे संगीत समाप्त हो जाता है।)

× × × × ×

(जब पुनः प्रकाश होता है तब रंगमञ्च पर कोई नहीं है। बहुत दूर से नर-नारियों के आमोद-प्रमोद की और अनेक वाद्य-यंत्रों की ध्वनि आ रही है। आकाश में मेघ उड़ते फिर रहे हैं। पूर्णिमा का चन्द्र मानों अब उगने को हो है। नटी का प्रवेश।)

नटी—
जिसको दीर्घ प्रतीक्षा थी
वह आ पहुँची अब,
रात्रि पूर्णिमा की यह,
भाव लिये अपने चन्द्रानन पर
मानों
कुछ क्षमा-याचना का
कुछ नवालोक के पुनराश्वासन का,
मानों कहती-सी—
ऐसा हृदय कौन है,
चन्द्र-बिम्ब की भाँति
नहीं जिस पर कलंक-कालिमा
कहीं भी तनिक लगी हो ?
पर सकलंक कलाधर से भी
संवेदन-सिञ्चित
रस-रोमाञ्चित
उल्लास-हास की
कैसी स्रोतस्विनी सदा निःसृत होती रहती है,
इसका भी तो किञ्चित् स्मरण करो !…
कुछ सोचो !…
(सूत्रधार का प्रवेश)

सूत्रधार — यही स्मरण करने का,
यही सोचने का तो
समय आज आ पहुँचा है,
विस्मित-विलोचने !
देख रही हो,
आज प्रकृति
कैसी विचार-मग्ना
उद्विग्ना-सी लगती है ?
कुछ अनुभव करती हो—
तर्क-वितर्क भरे-से
शुभ्र तथा श्यामल
उन चपल मेघ-खण्डों के पीछे
छिपता उनमें और झाँकता उनमें से
कुछ सस्मित
कुछ संकुचित
तुम्हारा वह 'सकलंक कलाधर'
किन संकल्प-विकल्पों में
कैसा उलझा प्रतीत होता है ?

नटी — इस उलझन का क्या सुलझाव ?···
आर्य,
आषाढ़ मास के
इस द्विविधामय पूर्ण-चन्द्र पर
कोई नया कलंक
और लगने वाला है ?
अथवा
इसकी रजत-रश्मियों से
कोई नूतन रस
बह चलने वाला है ?

सूत्रधार — क्या होने वाला है,
इसका निर्णय
नियति करेगी,
स्रष्टा स्वयम् करेंगे।

उस निर्णय का क्षण
तो अब आही पहुँचा है।
वह क्षण क्या लाता है,
ठहरो !....
देखें !....

(नटी का हाथ पकड़े सूत्रधार बाहर चले जाते हैं । कृष्ण-वसना राजनटी विद्युत् और दूती कादम्बिनी का प्रवेश)

राजनटी — सावधान, आर्ये ! कोई देख न ले। रथ तो प्रस्तुत है न ?

कादम्बिनी— रथ प्रस्तुत हो ही रहा है। किन्तु, राजनटी, क्या आपने भलीभाँति सोच-विचार लिया है ?

राजनटी — अधिक सोचने-विचारने का अब समय नहीं है। अब मुझे जाना ही चाहिए, जाना ही होगा।

कादम्बिनी— किन्तु राजकुमारी के स्वास्थ्य पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा ?

राजनटी — मैंने आचार्य धन्वन्तरि से पूछ लिया है। आचार्य की भी यही सम्मति है।

कादम्बिनी— फिर भी....

राजनटी — फिर भी यदि राजकुमारी को कोई आघात लगे तो उसके मूल में राजकुमारी के प्रति मेरा स्नेह, मेरी श्रद्धा ही है, यह मेरे इस पत्र से वे समझ जायेंगी। मेरा यह पत्र आप उन्हें दे देंगी न ?
(आवरण के नीचे से निकाल कर एक पत्र देती है।)

कादम्बिनी— *(पत्र लेती हुई)* इसकी प्रतिक्रिया राजकुमारी पर क्या होगी, इस पर ध्यान दिया है आपने ?

राजनटी — मेरा ध्यान उनकी प्रतिक्रिया से अधिक उनके कल्याण पर है। राजकुमारी के जीवन में अभिशाप और उनके स्वामी के जीवन में कलंक बनकर आने को मैं तैयार नहीं हूँ।

कादम्बिनी— किन्तु राजकुमारी तो इसे ऐसा नहीं समझतीं ?

राजनटी — यह उनकी महानता है। मुझे उनकी महानता की पूजा के योग्य बनना है। रथ के आने में कितनी देर है अभी ?

कादम्बिनी— सारथी को तो यथेष्ट पुरस्कार की आशा दे रखी है मैंने। आही रहा होगा। *(किसी पक्षी के बोलने की ध्वनि*

आती है ।) लगता है, उज्जयिनी से जाते समय इसकी ओर से यह पक्षी आपको स्नेह भरे स्वर में विदा दे रहा है ।

राजनटी — मुझे तो जान पड़ता है कि मेरी इस यात्रा पर यह मुझे उज्जयिनी की ओर से चिन्ता-मुक्ति के स्वर में धन्यवाद दे रहा है। किन्तु रथ तो अभी तक नहीं आया, आर्ये । इतना विलम्ब क्यों ?

कादम्बिनी— देखती हूँ *(जाती है ।)*

राजनटी — *(रक्ताशोक वृक्ष के पास जाकर खड़ी होती हैं ।)* रक्ताशोक ! उज्जयिनी से इस तरह छिपकर चली जाने के मेरे इस अपराध के लिए तुम राजकुमारी से मेरी ओर से क्षमा माँग लेना । *(केसर वृक्ष के पास जाती हैं ।)* केसर, तुम राजकुमारी से कह देना कि मैंने उनसे विदा भी नहीं माँगी, क्योंकि मैं जानती हूँ कि वे कभी भी मुझ पर रोष नहीं कर सकतीं । *(पाषाण-शिला पर बैठ जाती है ।)* कवि ! तुम्हारे द्वारा रचा हुआ राजनटी का सारा जीवन मैं यहीं छोड़े जा रही हूँ, साथ ले जा रही हूँ केवल··· *(अञ्चल में से चित्र निकालती है)* केवल तुम्हारा यह एक स्मृति-चिह्न, तुम्हारे द्वारा अंकित यह एक चित्र । बुद्धि कहती है कि यह भी राजकुमारी के प्रति मेरा एक अपराध है, किन्तु हृदय कहता है कि राजकुमारी मेरा यह अपराध क्षमा कर देंगी । कवि, ईश्वर जानता है कि मैं यह अपराध नहीं करती यदि इस पर तुम्हारे अश्रु-विन्दुओं के चिह्न नहीं होते, जो चिह्न मेरी दीर्घ साधनाओं का चुटकी भर पुरस्कार हैं । *(कालिदास का प्रवेश)*

कालिदास — तुम्हारी साधनाओं का मेरे पास कोई पुरस्कार नहीं है, विद्युत् । प्रवास में घूम रहे पथिक के पास उसे हँस-हँसकर पथ दिखाने वाली ज्योत्स्ना के लिए कौन-सा पुरस्कार हो सकता है ?

राजनटी — *(खड़ी हो जाती है ।)* कवि, मैं नहीं जानती थी कि आप यहाँ इस समय आने वाले हैं ।

कालिदास— किन्तु मैं जानता था कि तुम इस समय यहाँ आ रही हो ।

राजनटी — इस तरह एकान्त में मिलना मेरे और आप दोनों के लिए अनुचित है।

कालिदास— जीवन में एक क्षण ऐसा भी आता है जब अनुचित ही उचित बन जाया करता है। मालविका, उर्वशी और शकुन्तला के रूप में तुमने मुझे जो काव्य-दर्शन कराये हैं, उनके लिए तुम्हें एक वार धन्यवाद दे देना उचित ही नहीं आवश्यक भी था।

राजनटी — इस धन्यवाद के लिए धन्यवाद ! अव क्या आप कृपया मुझे यहाँ अकेली छोड़ देंगे ? मैं ···· मैं किसी की प्रतीक्षा कर रही हूँ।

कालिदास— तुम जिसकी प्रतीक्षा कर रही हो, वह नहीं आयेगा, विद्युत्।

राजनटी— क्या अर्थ ?

कालिदास— तुम जिस रथ पर उज्जयिनी से छिपकर भागना चाहती हो वह रथ तुम्हारे लिए नहीं आयेगा।

राजनटी— नहीं आयेगा ? ···क्यों ?

कालिदास— क्योंकि उस पर मैं जा रहा हूँ।

राजनटी— आप ? ····कहाँ ? ···क्यों ?···

कालिदास— कहाँ यह तो नहीं कह सकता, पर क्यों का उत्तर यह है कि एक नये जीवन-दर्शन, नये काव्य-सर्जन के लिए मुझे जाना ही चाहिए, उज्जयिनी से, यहाँ की सारी स्मृतियों से दूर ···· बहुत दूर।····

राजनटी— किन्तु इस तरह ? ····अभी ?

कालिदास — हाँ, इसी तरह अभी, अन्यथा मैं कभी किसी तरह नहीं जा पाऊँगा।

राजनटी— और राजकुमारी ? ····क्या वे जानती हैं कि ····

कालिदास— वे जानती हैं कि जब भी हो, जैसे भी हो, मुझे जाना ही चाहिए।

राजनटी— फिर भी····राजकुमारी से कह कर ही आपका जाना उचित है।

कालिदास— उचित का परिचय ममता के नहीं कर्तव्य के मुख से ही सुनना पुरुष का धर्म होता है, विद्युत्। मैं कवि हूँ, किन्तु उससे पहले मैं पुरुष हूँ।

राजनटी— यह पुरुष के तप का आग्रह बोल रहा है या उसके प्रेम का क्रोध ?

कालिदास— प्रत्येक क्रोध तप नहीं होता, किन्तु प्रत्येक तप में क्रोध रहता ही है, अपनी अपूर्णता पर, अपनी अक्षमता पर। तपस्वी क्रोध ही पुरुष को पुरुषार्थ दे सकता है। और मैं जाना चाहता हूँ पुरुषार्थ की ही

खोज में। (*नेपथ्य में रथ के आकर रुकने की ध्वनि* ।) रथ आ पहुँचा, विद्युत्। मैंने आज तक जो भी ज्ञात या अज्ञात अपराध किये हों, उनकी क्षमा चाहता हूँ तुमसे। इस चित्र को मेरी चिरन्तन क्षमा-याचना का ही एक विनम्र स्मारक समझना। (*जाना चाहते हैं*)

राजनटी— (*आगे बढ़कर*) किन्तु, कवि !···(*कालिदास रुक जाते हैं*) आप उज्जयिनी फिर लौटेंगे कब ?

कालिदास—जब तपस्या पूरी हो, पुरुषार्थ सिद्ध हो। न जाने कब।

राजनटी— और····और इस बीच ?

कालिदास—कुछ नहीं। कुछ भी नहीं। कालिदास इस बीच दूसरा नाटक या दूत-काव्य नहीं लिखने जा रहा है। इस यात्रा का अर्थ है या तो महाकाव्य नहीं तो महाप्रयाण। (*आकाश में मेघ-गर्जन होता है*) मित्र मेघ ! इसकी प्रेरणा तुम्हीं ने दी थी अब, इसकी पूर्ति भी तुम्हीं करो। (*सवेग चले जाते हैं। जाते समय दाहिने हाथ से स्वर्ण-वलय गिर पड़ता है। राजकुमारी का प्रवेश राजकुमारी उस वलय को उठा लेती हैं।*)

राजकुमारी—महाकाव्य नहीं तो महाप्रयाण !·· कैसा महान क्षण !···

राजनटी— (*उनकी ओर घूमकर*) राजकुमारी ! ····कवि चले गये···· आप से अनुमति ली उन्होंने ?

राजकुमारी—नहीं। किन्तु वे जा सकते हैं, इसका थोड़ा अनुमान मुझे भी था।

राजनटी— किन्तु····महाकाव्य नहीं तो महा-प्रयाण !···· यह सुना आपने ?

राजकुमारी—हाँ, विद्युत्। आर्यपुत्र के दक्षिण-हस्त का यह स्वर्ण-वलय हमें उनके इस महान संकल्प का स्मरण दिलाता रहेगा।

राजनटी —किन्तु आपने···आपने उन्हें चले जाने दिया ? रोका नहीं ? समझाया नहीं ?

राजकुमारी—भूल गई तुम ? तुम्हीं ने तो कहा था कि कवि को प्रेम केवल अपनी कविता से है !

राजनटी —किन्तु उनकी कविता तो आप हैं।

राजकुमारी—उनकी कविता तो है मूर्त नारी नहीं, अमूर्त नारीत्व !

राजनटी —किन्तु यह तो अन्याय है उनका—अपने साथ अन्याय है, कविता के साथ अन्याय है, आपके साथ अन्याय है। इस अन्याय को रोकिए, राजकुमारी। सुनती नहीं ? रोकिए···रोकिए उन्हें !

राजकुमारी—असम्भव ! तपोवृत्ति जाग उठने पर तपस्वी को तपोवन में जाने से कौन रोक सका है आजतक ?

राजनटी —किन्तु यह···यह तो तप नहीं, क्रोध है ।

राजकुमारी—ऐसा ही क्रोध राम-जानकी या शंकर-पार्वती की कथाएँ कह सकता है, विद्युत् । ···चलो, उत्सव में चलें ।

राजनटी —उत्सव में ? आप भी कितनी निष्ठुर हैं, राजकुमारी ? कितनी निष्ठुर हैं ? (*सिसकती है ।*)

राजकुमारी—(*राजनटी के आँसू पोंछती हुई*) कवि ने तुमसे आँसू माँगे थे, मुझसे निष्ठुरता माँगी है । चलो, चलें ।····तुम मेघदूत गाओ, मैं सूनूँ ।

(*राजनटी को लेकर राजकुमारी चली जाती हैं । नटी और सूत्रधार का प्रवेश*)

नटी —
आर्य !
विरह के गायक
आज
विरह के नायक
बनकर चले गये
परन्तु उनकी पत्नी ने···
राजकुमारी विद्या ने ··
क्यों एकबार भी रोका नहीं उन्हें ?
क्या पति को विदा नहीं दे सकती थीं वे
दो मृदु शब्दों से ?
दो अश्रु-कणों से ?

सूत्रधार —
प्रिये !
नियति की इच्छा क्या है,
स्रष्टा का विधान क्या है,
सम्भव है,
राजकुमारी इसे जानती हों····

नटी —
···परन्तु
कवि का कैसा कठोर संकल्प ?
सुना तो ?····

सूत्रधार — ....महाकाव्य या महाप्रयाण !...

सुना !
परन्तु
क्या विधि होती हैं
महाकाव्य-रचना की,
महाकाव्य की महाप्रेरणा को
कितनी कठोर बनना पड़ता है,
यह तो उसका ही अपना रहस्य,
जिसने पाया हो प्रेम
महाकवि का,
या प्रेम दिया हो
कभी महाकवि को....
(नेपथ्य से गायन का स्वर आता है)
परन्तु....
यह....यह कैसा स्वर ?
कैसे शब्द ?
यही क्या
महाकाव्य के महासृजन का
समारम्भ है ?...

(दूर से गाने की ध्वनि आती है। नटी और सूत्रधार ध्यान से सुन रहे हैं। संगीत चलता रहता है........कुमारसम्भव और रघुवंश के दो प्रारम्भिक श्लोक सुनाई पड़ते हैं...पटक्षेप।)

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ....
वागर्थाविव संपृक्तौ
वागर्थप्रतिपत्तये
जगतःपितरौ वन्दे
पार्वती परमेश्वरौ....

॥ समाप्त ॥

परिशिष्ट—क

कालिदास के साहित्य का एक विहगावलोकन

—: *मनोरमा श्रीवास्तव* :—

रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत के रचना-काल के परवर्ती संस्कृत-काव्य-सर्जन के युग के महान कवियों में प्रथम और प्रमुख स्थान कालिदास का है, यह निर्विवाद है। और इस निर्विवादिता की स्थापना में ही किसी कवि ने यहाँ तक कह डाला है कि जब प्राचीन काल में कवियों की गणना का प्रसङ्ग छिड़ा तब कालिदास का नाम अग्रणी कवि के रूप में काव्य-मर्मज्ञों की कनिष्ठिका उँगली पर आया और आज तक उनके समान किसी कवि के उत्पन्न नहीं होने के कारण उसके बाद की दूसरी उँगली—अनामिका—अभी तक नाम-विहीना बनी रह कर ही अपने नाम को सार्थक कर रही है।

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा
अद्यापि तत्तुल्य कवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव।

काव्य में उपमेयों और उपमानों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर आमने-सामने लाकर रखना कालिदास की ही विशेषता है—उपमा कालिदासस्य—यह सहज भाव से स्वीकार करनेवाला पाठक उन्हें जीवन की सरस-सुकुमार भावनाओं का सतत गायक तो मानना ही है, वह यह भी पाता है कि उनकी भावनाएँ कल्पनाओं के पङ्खों पर रसाकाश में उड़ती हुई सत्य शिव और सुन्दर के नये-नये तत्त्वों को खोजती-सी फिरती हैं। उनकी यह खोज किसलिए और क्यों है और इसके पीछे कवि-मानस के सर्जनात्मक अन्तर्द्वन्द्व कैसे और कहाँ से उठे होंगे, इसकी पूरी खोज हुई है या हो रही है, इसका सन्तोष कालिदास के पाठक को आज भी भरपूर नहीं हो पाता।

आलोचना-जगत् में कृति की समीक्षा और कृती की उपेक्षा की, काव्य के प्रति जागरूकता और कवि के प्रति विस्मृति की एक परम्परा-सी चली आ रही है। फिर भी बड़ी नदी का उद्गम छोटा हो यह असंगत जान पड़ता है। गन्धहीन फूल से खुशबूदार इत्र निकलता नहीं पाया जाता। इसलिए जबकि एक ओर इतिहास कालिदास के जीवन के सम्बन्ध में मौन है और दूसरी ओर कालिदास भी अपने प्रति स्वयम् उदासीन हैं, तब यदि उनका कोई प्रेमी उनसे सम्बन्धित किंवदन्तियों और उनकी काव्य-प्रवृत्तियों से ही उनके व्यक्तित्व और उनके

परिवेश और इन दोनों के मध्य के कुछ सम्भावित भावनात्मक संवाद-विवादों की कल्पना करना चाहे तो उसका यह प्रयास क्षम्य होना चाहिए।

एक किंवदन्ती के अनुसार कालिदास सम्राट् विक्रमादित्य की राज-सभा के नव-रत्नों में से एक थे। दूसरी किंवदन्ती के अनुसार उनका विवाह सम्राट् की पुत्री राजकुमारी विद्या से हुआ था, जो अपने समय की एक प्रसिद्ध विदुषी और दर्शन-शास्त्र की पंडिता थीं। तीसरी किंवदन्ती के अनुसार कालिदास को, उनके राज-जामाता होने के कारण, कुछ दिनों के लिए कोई शासन-भार सौंपा गया था जिसमें स्वभावतः असफल सिद्ध होने के फल-स्वरूप उन्हें आत्म-विरक्ति हुई थी और उस विरक्तावस्था में ही उन्होंने कुछ दिनों तक भारत के विभिन्न अञ्चलों का पर्यटन किया था।

यदि इन किंवदन्तियों की ही पृष्ठ-भूमि में रखकर कालिदास की रचनाओं का आभ्यन्तर अध्ययन किया जाय तो ऋतुसंहार से रघुवंश तक की उनकी काव्य-यात्रा का एक विशिष्ट कल्पना-चित्र उभरता है, जिसका मध्य-विन्दु एक विशेष दृष्टि से मेघदूत ही जान पड़ता है।

आज कालिदास की सात रचनाएँ उपलब्ध हैं। वे हैं—ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, अभिज्ञानशाकुन्तल, मेघदूत, कुमारसम्भव और रघुवंश। संस्कृत साहित्य में नाटक भी काव्य की ही एक रम्य विधा माना गया है-**काव्येषु नाटकं रम्यम्**। अतः यदि इन रचनाओं को उनकी काव्य-यात्रा के सात पड़ाव मान लें तो इन पड़ावों का क्रम पार्थिव से अपार्थिव, विलास से तप और प्रेयस् से श्रेयस् की ओर बढ़ता-सा जान पड़ता है। हो सकता है इतिहास या आलोचना-शास्त्र इस क्रम को स्वीकार न करे। किन्तु कालिदास के नाट्यकार के लिए इस क्रमको—और इसका मध्य-विन्दु मेघदूत को—मानने का एक विशेष महत्त्व है। अतः इन काव्यों को एक बार इस क्रम में ही रखकर देखें कि इनसे कवि के काव्य-विकास की कैसी धारा वहती दीख पड़ती है।

ऋतुसंहार:—ऋतुसंहार कालिदास की प्रथम रचना रही होगी यह प्रायः सभी ने माना है। छः सर्गों का यह खण्ड-काव्य छः ऋतुओं का वर्णन करता है। वे सभी ऋतुएँ—ग्रीष्म, प्रावृट् (वर्षा), शरत्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त—कवि के हृदय में भिन्न-भिन्न रूपों से कामोद्दीपन करती प्रतीत होती हैं। जो ऋतु जिस रूप में कामानुकूल हो उसी में वह कवि को प्रिय हैं और उनके लिए वर्णनीय वनी है। दूसरे सर्ग—प्रावृड्वर्णन—का प्रथम श्लोक कहता है—

देखो प्रिये! जलकी फुहारों से भरे हुए मेघों के मतवाले हाथी पर बैठा हुआ, चमकती हुई विजलियों की झण्डियाँ फहराता हुआ और मेघों के

गर्जन के नगाड़े बजाता हुआ यह कामियों का प्रिय पावस राजसी ठाठ-वाट बनाये आ पहुँचा है।

सशीकराम्भोधरमत्तकुञ्जरस्तडित पताकोऽशनि शब्दमर्दलः।
समागतो राजवदुद्धतद्युतिर्घनागमः कामिजनप्रियः प्रिये !

यह श्लोक इस काव्य में प्रकृति के प्रति कवि की कामुक दृष्टि का एक प्रतिनिधि उदाहरण है।

मालविकाग्निमित्र :—इस नाटक का कथा-क्षेत्र है भारतीय इतिहास की एक प्रसिद्ध नगरी—विदिशा। इसके नायक हैं विदिशा-नरेश अग्निमित्र और नायिका है अग्निमित्र की पट्ट-महिषी रानी धारिणी के एक दूर के भाई वीरसेन की छोटी बहन मालविका, जो इस समय विदिशा के राजभवन में रानी की दासी बनकर रह रही है। रानी ने उसके सौन्दर्य और गुणों पर मुग्ध होकर उसे अपने राज्य के श्रेष्ठ नाट्याचार्य गणदास को नाट्य-कला की विशिष्ट शिक्षा के लिए सौंप दिया है। अग्निमित्र की दूसरी महिषी हैं रानी इरावती। वे मालविका से घोर द्वेष रखती हैं। धारिणी अपनी सौत इरावती की अपेक्षा अधिक उदार हैं फिर भी वे राजा अग्निमित्र के उच्छृंखल और कामुक स्वभाव से परिचित हैं और मालविका को उनकी दृष्टि और सम्पर्क से बराबर दूर ही रखती हैं। किन्तु एक दिन नाट्याचार्यों के नाट्य-प्रदर्शन के अवसर पर राजा मालविका को देख ही लेते हैं और अपने स्वभावानुसार उस पर आसक्त भी हो जाते हैं। फिर तो दूतियों, परिचारिकाओं और विदूषकों की बन आती है और राजभवन प्रणय के षड्यंत्रों का अखाड़ा बन जाता है।

राजा को देखकर भोली-भाली मालविका का अनुराग भी उनके प्रति बढ़ता है जो उनकी वासना की आग में आहुति का काम करता है। जब इस की सूचना छोटी रानी इरावती को मिलती है तब वे प्रकट रूप से राजा की भर्त्सना करती हैं। बड़ी रानी धारिणी मालविका को उसके इस अनुचित अनुराग के लिए दण्ड भी देती हैं। किन्तु यह प्रेम-प्रवाह किसी भी व्यवधान को नहीं मानता। अन्त में दोनों रानियों को किसी प्रकार मना कर अग्निमित्र मालविका से विवाह कर ही लेते हैं।

इस नाटक के अग्निमित्र प्रौढ़, कामुक और धीरललित नायक हैं जिनका व्यवसाय प्रेम-क्रीड़ा के अतिरिक्त और कुछ नहीं दीखता। मालविका मुग्धा नायिका है जिसकी भावनाओं पर यौवन की उषा की लालिमा तो छिटक आई है किन्तु जिसकी बुद्धि को स्त्रीत्व की सूर्य-किरणों ने अभी तक नहीं छुआ है। सब कुछ मिलाकर यह नाटक एक रसिक मनोविनोद है, जिसमें भोग की कामना किसी आदर्श का समर्थन नहीं खोजती।

विक्रमोर्वशीय—इस नाटक में चन्द्रवंश के प्रतापी राजा पुरूरवा और इन्द्रलोक की प्रसिद्ध अप्सरा उर्वशी का प्रेमाख्यान वर्णित है। हेमकूट पर्वत से यक्षराज कुबेर की आराधना करके अपनी सखियों के साथ स्वर्ग को लौटती हुई उर्वशी राक्षसों के द्वारा बलपूर्वक पकड़ ली जाती है। इसी समय सूर्य की उपासना कर लौट रहे पूरूरवा भी वहीं आ पहुँचते है और उर्वशी और उसकी सखियों को राक्षसों के हाथों से छुड़ा देते हैं। इसके बाद उर्वशी स्वर्ग चली जाती है और पूरूरवा अपनी राजधानी लौट आते हैं। किन्तु दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति प्रेम का यहीं सूत्रपात हो जाता है।

कुछ दिनों बाद देवराज इन्द्र की सभा में भरत मुनि का लिखा हुआ लक्ष्मी-स्वयंवर नाटक प्रस्तुत किया जा रहा है। रंगमञ्च पर लक्ष्मी की भूमिका में अवतीर्ण हुई है उर्वशी। किन्तु उसके मन में तो पुरूरवा ही बसे हुए हैं। अभिनय करते समय उसके मुख से 'पुरुषोत्तम' के बदले पुरुरवा का नाम निकल पड़ता है। इससे नाटक का रस-भंग हो जाता है और भरत मुनि क्रुद्ध होकर उर्वशी को स्वर्ग-भ्रष्ट होने का शाप देते हैं। देव-देवियों में खलबली मच जाती है। किन्तु मुनिका शाप मिथ्या नहीं हो सकता। इन्द्र दयापूर्वक इस स्थिति को सँभालते हैं और उर्वशी को आश्वासन देते हैं कि पृथ्वी पर पुरूरवा से एक सन्तान उत्पन्न कर चुकने के बाद वह फिर स्वर्ग लौटने का अधिकार पा सकती है। इस प्रकार मुनि के शाप से उर्वशी और पुरूरवा के प्रेम की इच्छा पूरी होती है। उन दोनों के लिए शाप ही वरदान बन जाता है। और इस वरदान में तब और भी चार चाँद लग जाते हैं जब इस प्रेम का समाचार पाकर पुरुरवा की पहली पत्नी महारानी देवी चान्द्रायण व्रत पूर्ण कर तथा चन्द्रमा को साक्षी बना कर अपने पति से कहती हैं कि आज से आर्यपुत्र जिस स्त्री से प्रेम करेंगे, अथवा जो स्त्री आर्यपुत्र से प्रेम करेगी मैं उसके साथ प्रेमपूर्वक रहूँगी।

किन्तु भाग्य की इस अद्भुत कृपा के बाद भी पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम में एक बाधा आड़ी खड़ी होती है, जिसका कारण है एक की सहज उच्छृङ्खलता और दूसरी की स्वाभाविक ईर्ष्या। एक दिन गन्धमादन पर्वत पर जब दोनों विहार कर रहे हैं तब मन्दाकिनी के तट पर बालू के टीले बना-बना कर खेलती हुई उर्वशी अकस्मात् देखती है कि पास ही बैठे पुरूरवा उदयवती नामकी एक सुन्दरी विद्याधर-कन्या को प्यासी हुई आँखों से घूर रहे हैं। इससे उसके भावुक हृदय को कठोर आघात लगता है और वह क्रोध से विह्वल होकर राजा के सभी मनुहारों को ठुकराकर पास के ही कुमारवन में झपट कर चली जाती है, जहाँ स्त्रियों के जाने का घोर निषेध है। फलतः वह उस में घुसते ही एक प्राचीन शाप के प्रभाव से उस वन के बाड़े पर लता बन जाती है।

इसके वाद उर्वशी के लिए पुरूरवा का जो सन्ताप और विलाप इस नाटक में वर्णित हुआ है वह काव्य की एक अमर निधि है। लता के रुप में ही खड़ी-खड़ी उर्वशी पुरूरवा का सारा कष्ट देखती और सुनती है। अन्त में जब एक लालमणि के प्रताप से शाप-मोचन होता है और फिर प्रेमी और प्रेमिका का मिलन होता है तब दोनों एक दूसरे को हृदय से क्षमा कर देते हैं।

उस विशिष्ट लालमणि को राजा बड़े यत्न से रखते हैं। किन्तु एक दिन एक गीध उसे अपनी चोंच में लेकर उड़ जाता है। जब तक राजा उस गीध का पीछा करें तब तक दूर से आया हुआ एक बाण उसे बेध देता है और राजा को फिर वह लालमणि मिल जाती है। जब राजा उस बाण को उठाकर देखते हैं तब पाते हैं कि उस पर 'आयु' का नाम अंकित है। इसी समय एक वृद्धा तापसी एक तेजस्वी बालक को लेकर उनके सामने आती है और कहती है कि यह उर्वशी से उत्पन्न उन्हीं का पुत्र आयु है, जिसका पालन और प्रशिक्षण महर्षि च्यवन के आश्रम में अभी तक होता रहा है।

पुत्र-प्राप्ति से राजा को महान् आनन्द होता है, किन्तु साथ ही उन्हें स्मरण हो आता है कि अब देवराज इन्द्र की पूर्व-व्यवस्था के अनुसार उर्वशी के स्वर्ग लौट जाने के दिन आ गये। वे खिन्न हो उठते हैं और निश्चय करते हैं कि उर्वशी के चली जाने के बाद वे अपने पुत्र आयु को ही राज्य-भार देकर स्वयम् संन्यास ग्रहण करेंगे।

किन्तु एकबार फिर भाग्य उनका साथ देता है। देवर्षि नारद यह समाचार लाते हैं कि देवों और दानवों के युद्ध की सम्भावना है, जिसमें इन्द्र ने उनकी सहायता माँगी है, इस आश्वासन के साथ कि इस सहायता के पुरस्कार-स्वरुप उनके जीवन भर उर्वशी उनके साथ रहेगी। पुरूरवा उर्वशी से उत्पन्न अपने पुत्र आयु को युवराज-पद पर अभिषिक्त करते हैं और देवासुर-संग्राम में इन्द्रकी सहायता के लिए चल पड़ते हैं।

इस नाटक के नायक पुरूरवा धीरोद्धत नायक हैं जो अपनी एक भुजा से देव-कार्य और दूसरी भुजा से अपनी काम-तृप्ति किया करते हैं। उर्वशी प्रगल्भा नायिका है जो प्रेम का आग्रह रखती है किन्तु भोग से विमुख नहीं है। इस नाटक में प्रेम के धरातल को कामना की सतह से ऊपर उठाकर कर्त्तव्य की सतह पर ले जाने को चेष्टा की गई है, किन्तु मानव की कामुकता और अप्सरा की ईर्ष्या इसके दो प्रश्न-चिह्न बनकर रह ही जाते हैं।

अभिज्ञानशाकुन्तल—यह कालिदास का श्रेष्ठ नाटक है, जिसकी प्रशंसा आलोचकों ने मुक्त कंठ से की है। किन्तु यह नाटक स्वयम् कालिदास को कहाँ तक सन्तुष्ट कर सका होगा यह एक प्रश्न ही है।

महाभारत की एक कथा के अनुसार एक बार ऋषि विश्वामित्र ने पृथ्वी पर इतना कठोर तप किया कि स्वर्ग में देवराज इन्द्र भयभीत हो उठे कि कहीं ऋषि इन्द्रासन के ही अधिकारी न बन बैठें। अतः इन्द्र के आदेश से एक अप्सरा मेनका ने अपने रूप-यौवन के प्रभाव से ऋषि का तपोभंग किया और आत्माके ऊपर मांस की विजय के स्मारक के रुप में एक कन्या का जन्म हुआ। लज्जित ऋषि और कठोर अप्सरा दोनों ने ही उस नवजाता कन्याका त्यागकर दिया। तब वनके शकुन्तों ने दयार्द्र होकर उसे पाला, जिससे उसका नाम पड़ा शकुन्तला।

कुछ दिनों बाद महर्षि कण्व उसे अपने आश्रम में ले आये और अपनी ही कन्या के समान उसे शिक्षा-दीक्षा देने लगे। कुछ सयानी होने पर आश्रम में आये हुए अतिथियों का स्वागत-सत्कार ही उसका मुख्य कार्य बना।

नाटक का प्रारम्भ होता है महर्षि कण्व के आश्रम में आखेट के लिए निकले हुए पुरु-वंश के राजा दुष्यन्त के आगमन से।

महर्षि सोमतीर्थ करने गये हैं। अतः राजा आश्रम-भ्रमण करके शीघ्र ही चले जायेंगे। किन्तु आश्रम-कन्याओं—और विशेषतः शकुन्तला—का सौंदर्य उन्हें रोक लेता है। वे सोचने लगते हैं—क्या यह सौन्दर्य तपस्या के लिए बना है? क्या इस सुकुमार शरीर से ऐसा कठोर तप करा कर महर्षि कण्व सचमुच नीले कमल की पखड़ी के धार से शमी का पेड़ काटने पर ही उतारू नहीं हुए हैं?

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः
तपः क्षमं साधयितुं य इच्छति
ध्रुवं स नीलोत्पल पत्रधारया
समीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।

दुष्यन्त विलासी स्वभाव के नहीं है, किन्तु ऋषि-कन्या के वेष में अप्सरा-कन्या का सौन्दर्य उन्हें बरबस आकृष्ट कर लेता है। वे मन ही मन यह स्वीकार करते हैं कि यद्यपि शकुन्तला का कोमल शरीर वल्कल के योग्य नहीं है, तथापि वल्कल भी इसके शरीर के लिए अलंकार ही बन उठा है। सेवार से घिरा हुआ कमल और काले धब्बों से भरा हुआ चन्द्रमा न जाने क्यों और भी अधिक सुन्दर हो उठते हैं। सच तो यह है कि सुन्दर शरीर पर सभी कुछ शोभा देने लग जाता है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति
इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्

दुष्यन्त यही सब सोच-विचार रहे हैं तब तक एक ढीठ भौंरा न जाने कहाँ से आकर शकुन्तला के मुख के चारों ओर मँडराने लगता है। वह उससे दूर भागना चाहती है किन्तु वह उसका पीछा ही नहीं छोड़ता। दुष्यन्त के लिए यह एक मनचाहा अवसर आ जाता है। अपने क्षत्रिय-स्वभाव के अनुसार 'मत डरो मत डरो'—"न भेतव्यं न भेतव्यम्"—कहते हुए अन्ततः वे प्रकट हो ही जाते हैं। और यहीं से शकुन्तला और दुष्यन्त का प्रणय प्रारम्भ होता है।

शकुन्तला का जन्म-वृत्तान्त जान लेने पर दुष्यन्त के मन में यह आशा तो हो आती है कि वे उससे विधिवत् विवाह कर सकते हैं। किन्तु यह विवाह सचमुच हो ही सकेगा इसका उन्हें पूरा विश्वास नहीं होता। उन्हें शकुन्तला अपने अद्‌भुत सौन्दर्य के कारण अप्राप्य-सी लगती है।

ब्रह्मा की कला और शकुन्तला के रूप पर बार-बार विचार करने से यही जान पड़ता है कि यह निराले ढंग की ही एक सुन्दरता गढ़ी गई है—

स्त्री-रत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः।

और यह सब सोच कर वे मन ही मन कहते हैं—शकुन्तला का रूप वैसा ही पवित्र है जैसा बिना सूँघा हुआ फूल, नखों से अछूता पत्ता, बिना बिंधा हुआ रत्न, बिना चखा हुआ नया मधु या बिना भोगा हुआ पुण्यों का फल। पता नहीं इस रूप को भोगने के लिए ब्रह्मा ने किसे चुन रखा है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैः
अनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः

दुष्यन्त यह सब सोच ही विचार रहे हैं तब तक दो ऋषिकुमार आकर उन्हें सूचित करते हैं कि महर्षि कण्व के आश्रम में न होने के कारण वहाँ अनेक राक्षस उपद्रव कर रहे हैं, और वे दोनों उनसे अनुरोध करते हैं कि दो-चार रात वहीं बिताकर वे आश्रम से राक्षसों का उपद्रव दूर करें। दुष्यन्त ऋषिकुमारों के इस आमंत्रण को सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं।

किन्तु इसके बाद की जो घटनाएँ हैं वे न तो शकुन्तला के गौरव को बढ़ाती हैं न दुष्यन्त के यश को।

इन सारी घटनाओं का आधार तो महाभारत की मूल-कथा ही है किन्तु इनका रस-शृङ्गार कालिदास की कल्पना ने किया है। दुष्यन्त के चिन्तन में अहो-रात्र मग्न काम-ज्वर-पीडिता शकुन्तला उन्हें कमल-पत्र पर नखों से एक पत्र लिखती है, जिसमें वह यहाँ तक कह डालती है कि कि मैं आपके मन की बात

तो नहीं जानती किन्तु मैं स्वयम् आपके प्रेम-राश में बँध कर यह कष्ट भोग रही हूँ और कामदेव मेरे दुर्बल शरीर को दिन-रात तपा रहा है—

तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवाऽपि रात्रिमपि
निर्घृण तपति वलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यंगानि।

दुष्यन्त कब पीछे रहने वाले हैं ? इसके उत्तर में वे कहते हैं—हे सुन्दरि, कामदेव तुम्हें तो केवल सता रहा है किन्तु मुझे तो वह जलाये जा रहा है। दिन निकलने पर कुमुदिनी उतनी नहीं कुम्हलाती जितना चन्द्रमा कुम्हला जाता है—

तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव
ग्लपयति यथा शशांङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः।

इसके बाद शकुन्तला भूल जाती है अपने आश्रम-जीवन की परम्पराओं को और दुष्यन्त कुचल डालते हैं राज-धर्म की मर्यादाओं को। दोनों वासना से आतुर हो उस भोग की गाँठ में बँध जाते हैं जिसे कामार्त्तों की लज्जा बचाने के लिए शास्त्रों में कहा गया है—गान्धर्व विवाह।

कुछ दिनों बाद जब दुष्यन्त शकुन्तला को अपनी एक अँगूठी और अपना यह आश्वासन देकर चले गये हैं कि वे उसे राजधानी में शीघ्र ही बुला लेंगे, तब शकुन्तला के शरीर में गर्भ के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

किन्तु दिन पर दिन बीतते जा रहे हैं और दुष्यन्त की ओर से शकुन्तला के लिए न तो कोई सन्देश आता है न कोई बुलावा।

महाभारत की कथा के अनुसार यह एक अत्यन्त लज्जाजनक स्थिति है, जिसे ढकने के लिए कालिदास यह कहानी रचते हैं कि एक दिन परम क्रोधी ऋषि दुर्वासा आश्रम में आकर आतिथ्य की माँग करते हैं, जो शकुन्तला अपने प्रेमी के विरह में डूबी हुई होने के कारण अनसुनी कर देती है। इस पर क्रुद्ध हो दुर्वासा उसे शाप देते हैं कि वह अपने जिस प्रेमी का चिन्तन कर रही है वह उसे बिल्कुल ही भूल जायेगा। इस शाप का समाचार पाकर जब शकुन्तला की सखियाँ ऋषि से कृपा के लिए अनुनय-विनय करती हैं तब थोड़ी दया करके वे इतना भर आश्वासन देते हैं कि जब शकुन्तला दुष्यन्त को उसे उनकी दी हुई अंगूठी दिखायेगी तब उन्हें उसका स्मरण आ जायेगा।

जब सोम-तीर्थ से लौटकर महर्षि कण्व अपनी अनुपस्थिति में आश्रम में घटित इन घटनाओं का समाचार पाते हैं तब वे गर्भवती शकुन्तला को उसके गान्धर्व पति दुष्यन्त के पास हस्तिनापुर भेजने की तैयारियाँ करते हैं। महर्षि के मन में एक पराई लड़की के लिए जो स्नेह है वह बिरले ही किसी को अपनी कन्या से भी होगा। उनके मन में क्रोध नहीं केवल क्षमा है। जिसे आज तक इतने यत्न से पाला उसे अब विदा करते हुए वे कह उठते हैं—जब मुझ जैसे

वनवासी को इतनी व्यथा हो रही है तब उन विचारे गृहस्थों को कितना कष्ट होता होगा जो पहले-पहल अपनी कन्याओं को विदा करते होंगे—

वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ।

शकुन्तला के पति-गृह-गमन के अवसर पर आश्रम का चराचर जीवन उसे जो स्नेहपूर्ण विदाई देता है वह कालिदास के काव्य के मस्तक का तिलक है। हरिणियाँ चवाई हुई कुश के कौर उगल रही हैं, मोरों ने नाचना छोड़ दिया है और लताओं से पीले-पीले पत्ते इस तरह झड़ रहे हैं मानों उनके आँसू गिर रहे हों—

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः
अपसृतापाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ।

और अन्त में महर्षि कण्व शकुन्तला के कल्याण के लिए सारे तपोवन से शुभ-कामनाएँ माँगते हैं—हे वन-देवताओं से भरे हुए तपोवन के वृक्षों ! जो पहले तुम्हें खिलाये बिना स्वयं जल नहीं पीती थी, जो आभूषण पहनने का प्रेम होने पर भी तुम्हारे स्नेह के कारण तुम्हारे कोमल पत्तों को हाथ नहीं लगाती थी, जो तुम्हारी नई कलियों को देख-देख कर फूली नहीं समाती थी, वही शकुन्तला आज अपने पति के घर जा रही है। तुम सभी इसे प्रेम से विदा दो—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्
आद्ये वः कुसुमप्रसूति समये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ।

किन्तु पिता के गृह में शकुन्तला पर बरसाया जाता हुआ यह अपार स्नेह पति-गृह में उसकी प्रतीक्षा कर रहे घोर अपमान की ही मानों एक व्यंग्यात्मक भूमिका है। दुष्यन्त, चाहे अपने पुरुष-स्वभाव के चलते या दुर्वासा के शाप के कारण, शकुन्तला को बिल्कुल ही भूल गये हैं। उसके साथ विवाह का तो क्या परिचय तक का उन्हें स्मरण नहीं। जब शकुन्तला उन्हें उनकी दी हुई अंगूठी दिखाना चाहती है तब देखती है कि वह अँगूठी खो गई है। अब वह क्या करे ? दुष्यन्त का विस्मरण और भी घना और तिरस्कार और भी प्रखर हो उठता है। वे द्विविधा में पड़ जाते हैं कि अब मैं अपनी पत्नी को छोड़ने का पाप करूँ या पराई स्त्री को छूने का पाप करूँ-दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः।

और तब शकुन्तला चिल्ला उठती है—हे पृथ्वी, तू फट जा और मुझे अपनी गोद में ले ले—भगवति वसुधे देहि मे विवरम् ।

दुर्वासा के शाप की काव्य-कल्पना से कालिदास ने दुष्यन्त के दुर्व्यवहार और शकुन्तला की दुर्दशा पर परदा डालने की चेष्टा तो की है, किन्तु वह चेष्टा कहाँ तक उन दोनों की दुर्दान्त वासना से प्रेरित उनके गान्धर्व सम्बन्धों को औचित्य प्रदान भी करती है, यह एक चिरन्तन प्रश्न बन कर रह जाता है।

बहुत दिनों बाद एक मछुए को एक मछली के पेट में से एक रत्न-जटित अंगूठी मिलती है। यह वही अंगूठी है जो दुष्यन्त ने शकुन्तला को दी थी और जो शकुन्तला के शक्रावतार में शचीतीर्थ के जल को प्रणाम करते समय उसकी उँगली से निकलकर नदी के जल में गिर गया था। उस अंगूठी को देखते ही दुष्यन्त के मन में शकुन्तला के साथ के उनके परिचय और प्रणय की सारी स्मृतियाँ लौट आती हैं। वे उसके प्रति किये गये अपने कठोर व्यवहार पर अत्यन्त लज्जित और कुण्ठित होते हैं और उसके लिए नाना प्रकार से विलाप करते हैं। किन्तु अब वे शकुन्तला को खोजें तो कहाँ ?

इसी बीच स्वर्ग में देवासुर-संग्राम छिड़ जाता है। उस संग्राम में इन्द्रने सहायता के लिए दुष्यन्त को आमंत्रित किया है। दुष्यन्त आमंत्रण स्वीकार कर इन्द्र की सहायता करते हैं। संग्राम समाप्त हो चुकने पर जब वे पृथ्वी की ओर लौटने लगते हैं तब हेमकूट पर्वत पर प्रजापति कश्यप की प्रदक्षिणा करने के लिए उतर जाते हैं। उसी समय वे देखते हैं कि दो तपस्विनियों के साथ एक पराक्रमी बालक एक सिंह के बच्चे को घसीटे लिये चला आ रहा है और उसका मुँह खोलकर उसके दाँत गिनना चाहता है। इस बालक के प्रति अनायास ही दुष्यन्त का वात्सल्य-प्रेम उमड़ पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शकुन्तला के गर्भ से उत्पन्न उन्हीं का पुत्र भरत है, जिसका पालन कश्यप के आश्रम में हुआ है।

जब एक पुत्र के माध्यम से एक पिता एक माता को पहचानता है तब वही पहचान स्थायी और कल्याणकर होती है, यही मानो भरत को बीच में लिये दुष्यन्त और शकुन्तला के पुनर्मिलन में कालिदास की स्थापना है। जर्मन कवि गेटे ने इस स्थापना के लिए कालिदास को विश्व का एक श्रेष्ठ कवि माना है। किन्तु उनकी इस स्थापना से दुष्यन्त और शकुन्तला के गांधर्व-विवाह की प्रशस्ति भी होती हो ऐसा नहीं जान पड़ता। उस गांधर्व-विवाह को माता-पिता बन चुकने के बाद शकुन्तला और दुष्यन्त ने कभी स्वयम् साभिमान स्मरण किया होगा, इसमें संदेह ही रह जाता है।

मेघदूत—मेघदूत की कथा सम्पूर्णतः काल्पनिक है। यह एक तर्क-संगत कारण है कि इसे उनका एक प्रच्छन्न आत्म-संस्मरण और उनके काव्यों का केन्द्र-बिन्दु माना जाय।

भगवान शंकर के मस्तक के चन्द्रमा के किरणों से घुली हुई —**हरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या**—नगरी अलका में, जो कुवेर की राजधानी है, एक नवविवाहित यक्ष-दम्पत्ति रहते थे। यक्ष कुवेर का एक सेवक था, जिसे उसकी किसी भूल के कारण कुवेर ने एक वर्ष के लिए अलका से बाहर निकाल दिया था। अब वह यक्ष चित्रकूट पर्वत पर रामगिरि आश्रम में आकर रहने लगा है। यहाँ कार्तिक से ज्येष्ठ तक के आठ महीने उसने किसी तरह काट लिये हैं। किन्तु जब आषाढ़ आता है और उसे प्रथम मेघ के दर्शन होते हैं तब वह कान्ता-विरह की अपनी व्याकुलता को सँभाल नहीं पाता और मेघ को अँजुरी भर कुटज-कुसुमों का अर्घ्य अर्पित कर वह उससे प्रार्थना करने लगता है कि दया करके मानसरोवर जाते हुए थोड़ी देर के लिए अलका चले जाना और वहाँ मेरी विरहिणी यक्षिणी को मेरा कुशल-समाचार दे देना और उसे यह भी बता देना कि मैं उसके वियोग में यहाँ कितना कष्ट पा रहा हूँ।

रामगिरि राम और सीता की चरण-धूलि से पवित्र हुई एक तपोभूमि है। यहाँ के कुण्डों में कभी भगवती सीता ने स्नान किया था—**जनकतनयास्नान पुण्योदकेषु**। इस पर्वत की मेखलाओं पर भगवान राम के चरणों के चिह्न हैं—**रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु**। किन्तु ऐसे पवित्र स्थान में भी यह प्रवासी यक्ष भोग-भूमि अलका में बैठी हुई अपनी कान्ता यक्षिणी से सम्बन्धित अपनी विलास-कथाओं के कामुक संस्मरण अपने नये मित्र मेघ को अकुण्ठित भाव से सुनाता है। पति-पत्नी का प्रणय-विलास कामुक होकर भी पवित्र ही होता है यह उस यक्ष की मान्यता जान पड़ती है। और जो यक्ष को मान्य है वह मनुष्य को अमान्य न हो यह कवि का आग्रह प्रतीत होता है।

अब तक सभी मेघ को अनेक निर्जीव पदार्थों का एक समूह—**धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः**—मानते आये हैं। किन्तु यक्ष तो उसे पुष्कर और आवर्तक के विख्यात वंश में उत्पन्न और इन्द्र का एक बहुरूपी दूत ही मानता है—

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृति पुरुषं कामरूपं मघोनः।

इस दृष्टि से देखा जाय तो एक विरहिणी के पास एक विरही का सन्देश पहुँचाने के लिए मेघ से अधिक विश्वसनीय और बुद्धिमान दूत दूसरा नहीं हो सकता। अतः उसकी काफ़ी खुशामद कर और उसे अनेक आकर्षक प्रलोभन देकर दूतत्व के लिए राजी करने में यक्ष अपनी सारी काव्य-कुशलता खर्च कर देता है।

पहली बात तो यह कि इस यात्रा के आरम्भ में सगुन कितने अच्छे हो रहे हैं! अनुकूल वायु धीरे-धीरे बह रही है और चातक मधुर स्वर में बोल रहा है—

मन्दं-मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथात्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।

तुम आ पहुँचे हो यह देखकर बगुलियाँ समझ जायेंगी कि अब उनके गर्भ-धारण का समय भी आ पहुँचा है, इसलिए वे पाँत बाँध कर तुम्हें अपने पंखों से पंखा झलने के लिए अब उड़कर आ ही रही होंगी—

गर्भाधानक्षण परिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः।

फिर तुम्हारा गरजना सुन कर मान-सरोवर को जाने के लिए उतावले राजहंस अपनी चोंचों में कमल की डंठलें लिये कैलास पर्वत तक तुम्हारे साथ-साथ उड़ते जायेंगे—

आकैलासद्विसकिसलयच्छेद पाथेयवन्तः
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः।

और सबसे बड़ी बात तो यह कि इन्द्रधनुष से सजा हुआ तुम्हारा साँवला शरीर ऐसा सुन्दर लगने लगा है मानों मोर-मुकुट पहने स्वयं कृष्ण ही आकर खड़े हो गये हों—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात्
वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोप वेषस्य विष्णोः।

ऐसे शुभ मुहूर्त में यात्रा आरम्भ करके मेघ को किधर जाना, क्या देखना, क्या करना है, इसके अनेक विस्तृत और सरस सुझाव यक्ष उसे देता है। वह यह तो मानता है कि मेघ की पत्नी विद्युत् है। किन्तु नदियों और निर्झरिणियों के प्रति भी मेघ का थोड़ा रति-भाव रहता है यह उसने सुन रखा है। अतः रास्ते की वेत्रवती, सुभगा, रेवा, शिप्रा आदि नदियों से थोड़ा मधुमय अभिसार करते हुए जाने की वह उसे मित्रतापूर्ण सलाह देता है। थक जाने पर पर्वतों पर, मणि-हर्म्यों पर तथा कपोतपालिकाओं में विश्राम करने को भी कहता है। और इसके साथ-साथ वह अनेक ऐसी बातें कहता है जो कोई दो रसज्ञ अभिन्न मित्र ही एक दूसरे से कह-सुन सकते हैं।

किन्तु इस सारे काव्य में केवल यक्ष ही बोलता है, मेघ कुछ नहीं बोलता। जिससे दूत बनने का आग्रह किया जाय उसे एक बार भी कुछ भी बोलने का अवसर न दिया जाय, यह बात थोड़ी अनोखी जरूर है। किन्तु यह यक्ष तो है ही अनोखा! उसे अपनी सुनाने से ही कहाँ फुर्सत है जो वह किसी दूसरे की

कुछ सुने ! अपनी जिस कान्ता से वह एक क्षण भी दूर नहीं रह सकता था, अब उसी के आठ मास के इस लम्बे वियोग में वह इतना कृश हो गया है कि उसके हाथों के सोने के कंगन ढीले हो-हो कर गिर-गिर पड़ते हैं—

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्त प्रकोष्ठः

और उसके तन से भी अधिक कष्ट में है उसका मन। उसका सबसे बड़ा कष्ट यह है कि जब वह इस आश्रम में कहीं बैठा हुआ किसी पत्थर की शिला पर गेरू से अपनी प्रेम में रूठी हुई कान्ता का चित्र खींच कर उसमें यह भी अंकित करना चाहता है कि वह उसे मनाने के लिए उसके पाँव छूने को झुक रहा है, तब उसी समय उसकी आँखों से आँसुओं की ऐसी धारा उमड़ पड़ती है जिससे आँखें खुली रखना या उस चित्र को देख सकना ही कठिन हो जाता है। इस प्रकार निष्ठुर भाग्य चित्र में भी उन दोनों का मिलन नहीं होने देता। ऐसी दशा में यक्ष का मेघ से विशेष आग्रह यही है कि वह यक्षिणी तक उसकी इस कठोर वेदना का समाचार किसी तरह भी पहुँचा दे—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरण पतितं यावदिच्छामि कर्तुम्
अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचतैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः।

यदि कदाचित् मेघ एक क्षण के लिए भी सप्राण हो जाता तो वह यक्ष को उसकी इन बातों के उत्तर में क्या कहता यह एक कल्पना का विषय है। सम्भव है वह यक्ष को जीवन के गम्भीर कर्तव्यों से विमुख हो केवल विरह-गाथाएँ गा-गा कर आँसू बहाते रहने की उसकी आदत के लिए उसकी थोड़ी आलोचना करता। यह भी सम्भव है कि यक्ष ने अपने मन में मेघ-चरित्र का अपने से ही मिलता-जुलता जो चित्र खींच रखा है, और उस चित्र के अनुसार ही उसे जैसे और जितने प्रलोभन दिये जा रहा है, उनके लिए उसकी खासी लानत मला-मत भी करता। किन्तु तब यदि मेघ ने कालिदास के पूर्ववर्ती काव्य पढ़े होते तो सम्भवतः वह यह भी स्वीकार करता कि यक्ष के निर्माता कालिदास के हृदय में बैठे हुए एक रसिक कवि और एक मर्यादित पति दोनों ही एक दूसरे से हाथ मिलाते-से जान पड़ते हैं। यहाँ कवि की दृष्टि में परकीया के प्रति आकर्षण और स्वकीया के प्रति श्रद्धा का एकीकरण-सा हो रहा दीखता है। और यहाँ प्रेयसी और पत्नी के समन्वित रूप का गान और उस गान को उस रूपसी तक पहुँचा देने का आग्रह ही मानों मेघ को मानव का आह्वान बन उठा है।

कुमारसम्भव—मेघदूत में कवि का जो विकास परिलक्षित हुआ है उसी का मानों अगला चरण है कुमारसम्भव।

भारत के उत्तर में देव-तुल्य पर्वतराज है हिमालय। पूर्व और पश्चिम के समुद्रों तक फैला हुआ वह हिमालय मानों पृथ्वी का एक माप-दण्ड ही है—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।

उसी हिमालय की कन्या थीं पार्वती। जब पार्वती को उनकी माता मेना ने कहा—'हे वत्से, तपस्या मत करो' तभी से उनका नाम पड़ा 'उमा'—

उमेति मात्रा तपसौ निषिद्धा
पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम।

एक दिन देवर्षि नारद ने पार्वती को देख कर यह भविष्यद्वाणी की थी कि यह कन्या अपने प्रेम के बल से शिवजी के आधे शरीर की स्वामिनी और उनकी अकेली पत्नी बनकर रहेगी—

समादिदेशैक वधूं भवित्रीं
प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य।

नारद की इस भविष्यद्वाणी को सत्य सिद्ध करने के लिए पार्वती को कठोरतम तपस्या करनी पड़ी।

उन दिनों तीनों लोकों में तारकासुर ने भारी उपद्रव मचा रखा था। शिव का वरदान प्राप्त होने के कारण वह अवध्य हो गया था। तब ब्रह्मा ने यह उपाय बताया कि यदि शिव के ही कोई पुत्र उत्पन्न हो तो वह उसे मार सकता है। किन्तु शिव की पहली पत्नी सती का देहान्त हो चुका था और दूसरा विवाह करने को वे तैयार नहीं थे। उनके पुत्र हो तो कैसे?

इन्हीं दिनों पार्वती शिव की पूजा के लिए कैलास जाने वाली थीं। इन्द्र ने अपने सेवक कामदेव को आज्ञा दी कि वह शिव को अपने कौशल से पार्वती के प्रति आकृष्ट करे। जिस समय पार्वती शिव-पूजन कर रही थीं उसी समय कामदेव ने इसकी चेष्टा भी की। किन्तु शिव तो जितेन्द्रिय थे। उन्होंने अपने तीसरे नेत्र की अग्नि से कामदेव को ही भस्म कर दिया और स्वयं अन्तर्धान हो गये। इससे पार्वती ने घोर लज्जा का अनुभव किया और अपने रूप को धिक्कारा, क्योंकि जो प्रिय को रिझा न सके उस रूप का होना न होना दोनों बराबर हैं—

निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता

शिव को प्राप्त करने के लिए पार्वती ने तपस्या करने का संकल्प लिया। इस पर उनकी माँ ने उन्हे बहुत समझाया कि कहाँ तेरा यह कोमल शरीर और कहाँ यह कठोर तपस्या—तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः। किन्तु हठी पार्वती कब किसी की भी सुनने वाली थीं। उन्होंने गौरी शिखर पर जाकर घोर तप आरम्भ किया। इस तप के सुदीर्घ काल में वे इतनी तपोनिरत हो गई थीं मानों अपना हाव-भाव कोमल लताओं को और अपनी चञ्चल चितवन हरिणियों को धरोहर बना कर देदी हैं—

लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं
विलोलदृष्टं हरिणांगनासु च।

धीरे-धीरे पार्वती का तप घोर से घोरतर होता गया। भीषण वर्षाओं और आँधियों में वे खुले मैदान में पत्थर की पटिया पर ही पड़ी रहतीं और अँधेरी रातें बिजली की आँखों से उन्हें बार-बार इस तरह देखतीं मानो वे उनके तप की साक्षी हों—

शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं
निरन्तरास्वन्तरवात वृष्टिषु
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयैः
महातपः साक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः।

इसी बीच एक दिन संन्यासी रूप धारण किये एक दिव्य ब्रह्मचारी वहाँ आ पहुँचे। पार्वती ने उनका उचित स्वागत-सत्कार किया। ब्रह्मचारी ने उनसे उनको इस घोर तपस्या का कारण पूछा। जब इस पर पार्वती ने लम्बी साँस ली तब ब्रह्मचारी ने कहा—हो न हो आप अपने योग्य पति को पाने के लिए ही यह तपस्या कर रही हैं। किन्तु मेरी तो समझ में नहीं आता कि इस संसार में ऐसा कौन है जिसके पीछे आप दौड़ें और फिर भी वह आपको न मिले—

न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते
भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम्।

इस पर पार्वती की सखियों ने ब्रह्मचारी को बताया कि वे शिव को पति रूप से पाने के लिए ही ऐसी तपस्या कर रही हैं। जब ब्रह्मचारी को यह सुन कर विश्वास नहीं हुआ तब पार्वती ने कहा—मैं उन्हें ही पाने के लिए यह तप कर रही हूँ, क्योंकि मन की साध कहाँ तक पहुँचती है इसका कोई ठिकाना तो है ही नहीं—

तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं
मनोरथानामगतिर्न विद्यते।

यह सुन कर ब्रह्मचारी महाशय बहुत ही आश्चर्यित हुए और दुःखित भी। वे कहने लगे—शिव की तीन तो आँखें, जन्म का कोई ठिकाना नहीं और नंग-धड़ंग—वर में जो गुण खोजे जाते हैं उनमें से एक भी तो नहीं है उनके पास। न रूप है, न बल है, न धन है—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता
दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसुः
वरेसु यद्दालमृगाक्षि मृग्यते
तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने।

इस पर पार्वती के हृदय में जो क्रोध उत्पन्न हुआ वह अवर्णनीय है। वे तुरत ही वहाँ से यह कहती हुई उठ खड़ी हुईं कि जो बड़ों की निन्दा करता है केवल वही पापी नहीं होता, जो उस निन्दा को सुनता है उसे भी पाप लगता है —

न केवलं यो महतोऽवभाषते
शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्

मैं यहाँ से चली, यह कहकर जब वे जाने लगीं, तब अकस्मात् ब्रह्मचारी ने उनका हाथ पकड़ लिया और अपना वास्तविक रूप प्रकट किया। वह ब्रह्मचारी स्वयं शिव ही थे। शिव को देख कर पार्वती के पैर जहाँ थे वहीं रुक गये, जैसे धारा के बीच में पहाड़ के पड़ जाने से नदी न तो आगे बढ़ पाती है न पीछे हट पाती, वैसे ही पार्वती न तो आगे बढ़ पाईं, न खड़ी ही रह पाईं—

मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।

तब शिव ने कहा—आज से तुम मुझे अपने तप से मोल लिया हुआ अपना दास समझो। यह सुनते ही पार्वती का सारा कष्ट दूर हो गया, क्योंकि जब काम पूरा हो जाता है तब उसके लिए उठाया हुआ सारा कष्ट भूल जाता है—

अद्यप्रभृत्यवनतांगि तवास्मिदासः
क्रीतस्तपोभिरिति नादिनि चन्द्रमौलौ
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशं फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।

इसके बाद शीघ्र ही शिव-पार्वती का विवाह हो गया। उस विवाह में सभी देव-गण उपस्थित हुए। ब्रह्मा ने पार्वती को आशीर्वाद दिया—हे कल्याणि, तुम वीर पुत्र की माता बनो—कल्याणि वीरप्रसवा भवेति।

ब्रह्मा का आशीर्वाद सार्थक हुआ। पार्वती ने शिव के पुत्र कुमार को जन्म दिया। शिव ने इन्द्र आदि देवताओं से कहा—हे देवो, समाधि में लगे होने पर भी मैंने पार्वती के साथ इसीलिए विवाह किया था कि इनका पुत्र तारकासुर को मारे—

पुरा मयाकारि गिरीन्द्रपुत्र्याः
प्रतिग्रहोऽयं नियतात्मनापि
तत्रैष हेतुः खलुतद्भवेन
वीरेण यद्वध्यत एव शत्रुः।

इतना कह कर शिव ने संग्राम को एक उत्सव मान कर नवजात कुमार से कहा— हे पुत्र तुम जाकर देवताओं के शत्रु ताड़कासुर को युद्धभूमि में मार आओ—

इत्युदीर्य भगवांस्तमात्मजं
घोर संगर महोत्सवोत्सुकम्।
नन्दनं हि जहि देवविद्विषं
संयतीति निजगाद शंकरः।

और जब शिवने कुमार से ऐसा कहा तब पार्वती की छाती दूनी हो गई, क्योंकि भला कौन ऐसी वीर-माता होगी जो अपने पुत्र की वीरता की बात से प्रसन्न न हो—

गिरिजया मुमुदे सुतविक्रमे
सति न नन्दति का खलु वीरसूः।

और जब कुमार देव-सेनापति बन कर तारकासुर से लड़ने के लिए चलने लगे तब पार्वती ने उन्हें गोद में लेकर छाती से लगा लिया और उनका माथा सूँघ कर आशीर्वाद दिया—हे पुत्र, लड़ाई में शत्रु को जीत कर यह बात सच्ची कर दो कि मैं वीर की माता हूँ—

तमंकमारोप्य सुताहिमाद्रे—
राश्लिष्य गाढं सुतवत्सला सा
शिरष्युपाघ्राय जगाद शत्रुं
जित्वा कृतार्थी कुरु वीरसूं माम्।

कुमारसंभव के अन्तिम पाँच सर्गों में कुमार के युद्ध और ताड़कासुर के बध का वर्णन है। इस काव्य के द्वारा कवि कालिदास पहली बार विरह-मिलन के पंक से निकल कर तपो-भूमि और युद्ध-क्षेत्र में पाँव रखते हैं। इसमें पहली

बार उन्होंने देव-शक्ति और देवी-रूप के दर्शन किये हैं। इसमें पहली बार उन्होंने विवाहित प्रेम की महिमा और गरिमा को समझा है।

रघुवंश—रघुवंश कालिदास की रचनाओं में निर्विवादतः सबसे प्रौढ़ और प्रांजल है। उन्नीस सर्गों का होता हुआ भी यह अपूर्ण-सा ही है, जिससे प्रतीत होता है कि यही उनकी अन्तिम रचना रही होगी।

इसका प्रारम्भ कवि ने कवि माने जाने की साध लेकर, 'कवियशः प्रार्थी' बन कर किया है, जिससे लगता है कि यही उनका गम्भीरतम काव्य-प्रयास है। इस प्रयास की सिद्धि के लिए कवि वाणी और अर्थ के समान एक दूसरे से भिन्न और फिर भी अभिन्न, सृष्टि के आदि कारण पार्वती और शिव की वन्दना करते हैं जिससे वाणी और अर्थ इन दोनों का ही उन्हें वर प्राप्त हो—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।

कवि को इस वर की विशेष आवश्यकता इसलिए है कि वे इक्ष्वाकु वंश के उन प्रतापी राजाओं की कीर्ति-कथाएँ कहने चले हैं जिनके चरित्र जन्म से मृत्यु तक शुद्ध और पवित्र थे, जो जब किसी भी काम को उठाते तो उसे पूरा करके ही छोड़ते, जिनके राज्य समुद्र के ओर-छोर तक फैले हुए थे, जिनके रथ पृथ्वी से सीधे स्वर्ग तक जाया करते, जो शास्त्रों के अनुसार यज्ञ करते, सभी को मुँह मांगा दान देते, अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड देते और अवसर देखकर ही काम किया करते, जो सच के लिए कम बोलते और त्याग के लिए संग्रह करते, जो यश बढ़ाने के लिए ही दिग्विजय करते और सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही विवाह करते और जो बचपन में अध्ययन करते, जवानी में भोग करते, बुढ़ापे में तपस्या करते और ईश्वर का ध्यान करते हुए ही शरीर छोड़ते। और सच तो यह है कि उन राजाओं के इन गुणों ने ही कवि को ऐसी कठिन काव्य-रचना की धृष्टता के लिए उकसाया है—

सोऽहमाजन्म शुद्धानामाफलोदय कर्मणाम्
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्।
यथाविधिहुताग्नीनां यथा कामार्चितार्थिनाम्
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्।
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्।
शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः।

काव्य का आरम्भ निःसन्तान महाराज दिलीप और उनकी पत्नी सुदक्षिणा की सन्तान-प्राप्ति के लिए की गई आप्राण गो-सेवा से होता है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति ने गो-सेवा को गृहस्थ-धर्म का मेरु-दण्ड मान रखा है। इसलिए महर्षि वशिष्ठ की गौ नन्दिनी की सेवा करके और उसका आशीर्वाद पा करके ही दिलीप और सुदक्षिणा इक्ष्वाकुवंश को आगे बढ़ा सकेंगे, यह कल्पना मानों प्रत्येक भारतीय गृहस्थ को उसके धर्म का ही स्मरण दिलाती है।

सेवा वही कर सकता है जो पहले तपस्वी बने। इसलिए वशिष्ठ के आश्रम की एक पर्णकुटी में रह कर शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए पूरे संयम-नियम से राजा-रानी गो-सेवा में लग जाते हैं। गौ की मुख्य सेवा है हरी घासों से भरे हुए किसी वन में ले जाकर उसकी रक्षा करते हुए उसे भर पेट चराना। इसलिए राजा-रानी नन्दिनी को लेकर रोज सवेरे वन को जाते हैं और शाम को आश्रम में लौटते हैं। इस दिन-चर्या में रानी राजा के पीछे-पीछे उसी तरह चलती हैं जैसे श्रुतियों के अर्थों के पीछे स्मृतियाँ चला करती हैं—श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्—और आगे राजा और पीछे रानी और उन दोनों के बीच में चलती हुई लाल रंग की गौ नन्दिनी ऐसी लगती है, मानो दिन और रात के बीच में चलती हुई संध्या हो—दिनक्षपामध्यगतेव संध्या।

इस प्रकार गौ-सेवा करते हुए इक्कीस दिन बीत गये। बाईसवें दिन नन्दिनी ने इस बात की परीक्षा लेने का निश्चय किया कि राजा-रानी की यह सेवा केवल शरीर से ही है या हृदय से भी। इसलिए उस दिन वन में पहुँच कर वह झपट कर एक अँधेरी गुफा में घुस गई। थोड़ी देर बाद गुफा के भीतर से उसका रँभाना सुन पड़ा। जब घबरा कर दिलीप गुफा में घुसे तो उन्होंने देखा कि गौ को दबोचे उस पर एक सिंह इस तरह बैठा है मानों गेरू के पहाड़ की ढाल पर पीले फूलोंवाला लोध का पेड़ फूल रहा हो—

अधित्यकायामिव धातुमय्यां
लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम्।

दिलीप ने सिंह को मारने के लिए ज्योंही बाण निकालने की इच्छा से तूणीर को हाथ लगाया त्योंही उनका हाथ तूणीर से चिपक गया। उन्हें भारी आश्चर्य हुआ और वह आश्चर्य तब और भी बढ़ा जब मनुष्य की भाषा में उस सिंह ने उन्हें यह बताया कि वह शिव का एक सेवक है और इस बन की रखवाली करता हुआ इस में घुस आनेवाले सभी जानवरों को मार कर खा जाया करता है।

उसने कहा कि आज इस गौ को खा कर मैं अपनी भूख मिटाऊँगा और तुम इसे मेरे हाथों से किसी तरह नहीं बचा सकते, इसलिए बिना किसी लाज-शर्म के घर लौट जाओ।

दिलीप ने यह समझकर कि वे इस सिंह को किसी तरह मार नहीं सकते उससे गिड़गिड़ा कर प्रार्थना की कि यदि तुम अपनी भूख ही मिटाना चाहते हो तो मुझे खा जाओ, लेकिन इस गौ को छोड़ दो। यह मेरे हाथों में रखी हुई ऋषि की अमानत है और इसका छोटा-सा भूखा बछड़ा शाम को इसकी राह देखेगा।

दिलीप की इस बात पर सिंह जोरों से दहाड़ कर हँसा और बोला—तुम्हारा एकछत्र इतना बड़ा राज्य, ऐसी नई उम्र, ऐसी कान्ति, ऐसा शरीर। एक छोटी-सी चीज के लिए इतनी बड़ी-बड़ी चीजों को लुटाने वाले तुम तो मुझे महामूर्ख जान पड़ते हो—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं
नवं वयः कान्तिमिदं वपुश्च
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्
विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।

दिलीप उसकी इन बातों में नहीं आये और बोले कि क्षत्रिय शब्द का अर्थ ही यह है कि वह दूसरों को क्षत होने से बचाये। यदि मैं इस काम को न कर सका तो इस राज्य या इस शरीर से मेरा लाभ ही क्या ?—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्र
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रुढ़ः
राज्येन किं तद्विपरीत वृत्तेः
प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ।

तब सिंह ने कहा—अच्छा, ऐसा ही सही। दिलीप का हाथ उनके तूणीर से छूट गया। उन्होंने अपने सारे अस्त्र-शस्त्र फेंक दिये और सिंह के सामने मांस के लोथड़े के समान गिर पड़े। वे सोच रहे थे कि अब सिंह उन पर टूटेगा लेकिन देखा कि उन पर पुष्प-वर्षा हो रही है। इसी बीच मीठे वचन सुनाई दिये—उठो बेटा! और उठकर उन्होंने देखा सिंह का कोई पता नहीं, केवल माता के समान दूध से भरी हुई नन्दिनी खड़ी है—

ददर्श राजा जननीमिव स्वां
गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम्।

गो-सेवा की परीक्षा पूरी हुई। गौ का आशीर्वाद पाकर दिलीप और सुदक्षिणा अयोध्या लौटे। कुछ दिनों बाद ही इक्ष्वाकुवंश के प्रतापी वंशधर रघु का जन्म हुआ।

रघु सयाने होने पर जैसे बलवान निकले वैसे ही बुद्धिमान भी। उनकी बल-बुद्धि के सहारे दिलीप ने निन्नानवे अश्वमेघ यज्ञ कर डाले। किन्तु जब सौवें यज्ञ के लिए अश्वमेध का घोड़ा छोड़ा गया तब, कहीं दिलीप इन्द्र-पद का दावा न कर बैठें इस भय से, इन्द्र ने उस घोड़े को चुरा लिया।

रघु को जब इसका पता लगा तब उन्होंने इन्द्र के पास जाकर उस घोड़े को छोड़ देने का आग्रह करते हुए कहा कि आप तो वेद का मार्ग दिखाने वाले एक महान देवता हैं, ऐसा ओछा काम करना आपको शोभा नहीं देता—

पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा
मलीमसामाददते न पद्धतिम्

इसका जब इन्द्र कोई उचित उत्तर नहीं दे सके और घोड़े को लौटाने के लिए भी तैयार नहीं हुए तब रघु ने उन्हें ललकारा कि यदि यही आपका निश्चय हो तो शस्त्र उठाइए और युद्ध कीजिये। रघु को जीते बिना आप घोड़ा लेकर नहीं जा सकते—

गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एषते
न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान्

तदुपरान्त इन्द्र से रघु का भयानक युद्ध हुआ। इन्द्र मनुष्य के लिए अजेय थे, किन्तु वे मनुष्य की वीरता की कद्र भी करते थे। अतः प्रसन्न होकर वे बोले—तुम इस घोड़े को छोड़कर और जो चाहो मांग लो। रघु बलवान होते हुए भी बुद्धिमान तो थे ही। उन्होंने कहा—यदि आप घोड़े को नहीं देना चाहते हैं तो यही वरदान दीजिए कि मेरे पिता विधिपूर्वक यज्ञ को समाप्त कर इस घोड़े के बिना ही सौ अश्वमेध यज्ञ करने का फल पा जायें—

अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो
ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि
अजस्रदीक्षा प्रयतः स मद्गुरुः
क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम्

इन्द्र ने घोड़ा तो नहीं लौटाया लेकिन यह वरदान दे दिया। निन्नानबे यज्ञ करके ही दिलीप को सौ यज्ञों का फल मिल गया।

दिलीप के वन-गमन के बाद अयोध्या के राजसिंहासन पर आसीन रघु ने अपने राज्य को सब प्रकार से सुखी और समृद्ध बनाया और अपने पूर्वजों का यश बढ़ाने के लिए दिग्विजय करने निकले। उन्होंने जिन देशों को जीता उनकी उन्नति भी की। उनके प्रताप से मरुभूमि में जल की धाराएँ बहने लगीं, गहरी नदियों पर पुल बँध गये और घने जंगलों में खुले मार्ग बन गये—

मरुपृष्ठान्युदकम्भासि नाव्याः सुप्रतरा नदीः
विपिनानि प्रकाशानि शक्ति मत्वाच्चकार सः

उन्होंने पहले पूर्व दिशा के गंगासागर के द्वीपों, वंग और कलिंग को जीत कर फिर दक्षिण दिशा में कावेरी के उस पार के मलयाचल के राज्यों को जीता, फिर पश्चिम में चित्रकूट तक को जीतते हुए इन्होंने उत्तर में सिन्धु नदी को पार कर काम्बोज आदि राज्यों पर विजय-पताका फहराई। फिर हिमालय पर चढ़कर अनेक पार्वत्य राजाओं को परास्त करते हुए उन्होंने प्राग्ज्योतिषपुर तथा काम्र-रूप आदि को अपने अधीन किया। इस प्रकार चारों दिशाओं में जय प्राप्त कर वे अयोध्या लौटे और अपनी इस दिग्विजय की परिसमाप्ति के रूप में विश्वजित् यज्ञ रचाया। इस यज्ञ के अवसर पर युद्ध में जीती हुई सारी सम्पत्ति उन्होंने दक्षिणा के रूप में योग्य व्यक्तियों और याचकों को लुटा डाली। क्योंकि जैसे बादल पृथ्वी से जल लेकर उसे फिर पृथ्वी पर बरसा देते हैं, वैसे ही महापुरुष भी धन इसीलिए इकट्ठा करते हैं कि उसका दान कर सकें—

सविश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्व दक्षिणं
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।

किन्तु जब रघु अपना सब कुछ दान में दे चुके और उनके पास केवल एक मिट्टी का पात्र बच गया तब वरतन्तु ऋषि के शिष्य कौत्स ऋषि ने उनके पास आकर अपनी गुरुदक्षिणा चुकाने के लिए एक विशाल धन-राशि की माँग की। रघु बड़े पसोपेश में पड़े। एक ऋषि की याचना पूरी न कर सकें यह लज्जा की बात थी। और याचना पूरी करें तो आखिर कैसे !

उनकी इस कठिनाई को समझ कर कौत्स ऋषि यह कर चलने के लिए उठ खड़े हुए कि पपीहा भी बिना जलवाले आश्विन के बादलों से पानी नहीं माँगता, आपका कल्याण हो !—

स्वस्त्यस्तुते निर्गलिताम्बुगर्भम्
शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि।

किन्तु रघु ऋषि को खाली हाथ कैसे लौटने देते ? उन्होंने उन्हें ठहराया और, पृथ्वी पर तो कहीं धन रह नहीं गया था इसलिए, दूसरे दिन कुबेर के ही खजाने पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। उनका ऐसा निश्चय करना था कि कुबेर ने रातों-रात उनके कोश में सोना बरसाना शुरू कर दिया।

वह सारा सोना रघु ने ऋषि को भेंट किया। ऋषि ने उतना सोना लेने से इन्कार किया लेकिन रघु ने वह सारा सोना उन्हें ही देने की जिद पकड़ ली। उस दिन अयोध्यावासियों ने उन दोनों की ही भूरि-भूरि प्रशंसा की, क्योंकि

उनमें से एक तो ऐसा संतोषी था जो आवश्यकता से अधिक लेना नहीं चाहता था और दूसरा ऐसा दाता था जो याचना से भी अधिक देने को तुला हुआ था—

जनस्य साकेत निवासिनस्तौ
द्वावप्य भूतामभिनंद्य सत्त्वौ
गुरुप्रदेयाधिक निःस्पृहोऽर्थी
नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ।

रघु के पुत्र थे अज। वे पराक्रमी तो थे ही, अत्यन्त सुन्दर भी थे। अतः विदर्भ की त्रिलोक-सुन्दरी राजकुमारी इन्दुमती ने अपने स्वयंवर में उपस्थित आर्यावर्त के सभी राजाओं में से उन्हीं का पति-रूप से वरण किया। इसके फलस्वरूप अज को उन राजाओं से घोर युद्ध करना पड़ा। वे युद्ध में विजयी हुए। और कुछ दिनों बाद रघु के संन्यास ग्रहण करने पर वे इन्दुमती के साथ अयोध्या के राज-सिंहासन पर बैठे।

अज शान्त प्रकृति के थे। अतः पत्नी के सहवास का आनंद लेते हुए राज्य में सुव्यवस्था बनाये रखना ही उनका प्रिय कार्य था। किन्तु भाग्य ने साथ नहीं दिया। इन्दुमती की अकाल मृत्यु हो गई। पत्नी की अनपेक्षित मृत्यु से पति को कितना कष्ट हो सकता है इसका संस्कृत वाङ्मय में उत्कृष्ट परिचायक है इन्दुमती के लिए अज का कालिदास-वर्णित विलाप। उनके इस विलाप से वृक्ष भी मानों अपनी शाखाओं से रस बहा कर रो पड़े थे—

विलपन्निति कोशलाधिपः करुणार्थ ग्रथितं प्रियां प्रति
अकरोत्पृथ्वीरुहानपि स्रुतशाखारसवाष्पदूषितान्

अज के पुत्र थे दशरथ। उनकी तीन रानियाँ थीं—कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी। फिर भी उनके कोई पुत्र नहीं था। एक दिन आखेट करते समय हरिण के धोखे से एक ऋषि-कुमार पर उन्होंने बाण चला दिया। ऋषि-कुमार मर गया। इस पर उसके शोकाकुल पिताने चिता में जलने की तैयारी की और दशरथ को शाप दिया कि तुम भी बुढ़ापे में पुत्र-शोक से ही मरोगे। दशरथ अत्यन्त दुःखी हुए किन्तु इस शाप के लिए भी उन्होंने मुनि को यह सोच कर धन्यवाद ही दिया कि मेरे भाग्य में पुत्र का होना लिखा तो है—

शापोऽप्यदृष्ट तनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवतामयि पातितोऽयम्

कुछ दिनों बाद रावण के अत्याचारों से पीड़ित स्वर्ग और मर्त्यलोक की रक्षा के लिए भगवान विष्णु ने दशरथ के पुत्र के रूप में राम बन कर अयोध्या में

जन्म लिया। विष्णु के अंश से ही दशरथ के अन्य तीन पुत्रों—भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न का भी जन्म हुआ।

इन चारों भाइयों में आपस में वचपन से ही वहुत प्रेम था। किन्तु विशेष प्रेम था एक ओर राम और लक्ष्मण में और दूसरी ओर भरत और शत्रुघ्न में। इनमें से एक जोड़ा था मानों वायु और अग्नि का, दूसरा जोड़ा था चन्द्रमा और समुद्र का। इन जोड़ों में से कभी कोई एक दूसरे से अलग होकर नहीं रहा—

तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्यं विभिदे न कदाचन
यथा वायुविभावस्योर्यथा चन्द्रसमुद्रयोः

एक दिन ऋषि विश्वामित्र ने दशरथ के पास आकर अपनी यज्ञ-रक्षा के लिए उनसे राम और लक्ष्मण की माँग की। ये दोनों ही अभी किशोर थे। फिर भी ऋषि की सेवा के लिए उन्हें दशरथ ने अपने दोनों पुत्रों को सौंप दिया। ऋषिने राम और लक्ष्मण को बला और अतिवला नाम की दो विद्याएँ दीं और इनके हाथों अनेक राक्षसों को यमलोक पठाया। किन्तु जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात हुई वह यह कि मिथिलानरेश महाराज जनक ने अपनी पुत्री सीता के लिए जो स्वयंवर रचाया था उसमें शिव-धनुष को तोड़कर राम ने भारी पराक्रम दिखाया। फलतः राम का विवाह सीता से हो गया और लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के विवाह भी सीता की ही छोटी वहनों—उर्मिला, माण्डवी और श्रुति-कीर्ति—से हुए। जब ये चारों नववधुएँ मिथिला से अयोध्या आईं तब उन्हें देखने के लिए झाँकती हुई स्त्रियों की आँखों से जान पड़ा मानों सारी अयोध्या के हर झरोखे में कमल के फूल खिल उठे हों—

पुरमविशदयोध्यां मैथिली दर्शनानां
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरंगनानाम्

कुछ दिनों वाद दशरथ ने विचार किया कि अब राम का राज्यभिषेक कर संन्यास ग्रहण करना उचित है। किन्तु नियति का लेख तो कुछ दूसरा ही था। कैकेयी की दुर्बुद्धि के कारण राजा को चौदह वर्षों के लिए राम को बनवास की आज्ञा देनी पड़ी। राम के साथ-साथ लक्ष्मण और सीता ने भी वन-गमन किया। पुत्र-शोक में दशरथ की मृत्यु हुई। भरत ने राजतिलक लेना अस्वी-कार कर सरयू के किनारे शत्रुघ्न के साथ एक कुटिया में रहना आरम्भ किया। अयोध्या अनाथ हो गई।

बनवास की अवधि में राम और लक्ष्मण ने अनेक राक्षसों को मारा, जिसका बदला लेने के लिए रावण ने अपनी माया से सीता का हरण कर लिया और

उन्हें दण्डकारण्य की पञ्चवटी में से उठा कर लंका के अशोक वन में ले गया। इससे व्याकुल और क्रुद्ध हो राम ने बानरों और भालुओं की एक भारी सेना खड़ी की और लंका पर चढ़ाई कर दी। इसके बाद एक महायुद्ध हुआ जिसमें राम के हाथों रावण मारा गया। लंका में रावण का कुबेर से जीता हुआ आकाश में इच्छानुसार उड़नेवाला एक पुष्पक विमान था। उसी विमान पर सीता, लक्ष्मण और अपनी सेना के अनेक योद्धाओं को साथ लेकर राम अयोध्या लौटे।

इस विमान पर लंका से अयोध्या लौटते और पथ के नाना परिचित दृश्यों को देखते हुए राम के मन में अनेक सोई हुई स्मृतियाँ जाग उठीं। वे सीता से कहने लगे—देखो, यह वही स्थान है जहाँ तुम्हें ढूँढ़ते हुए मैंने पृथ्वी पर पड़ा हुआ तुम्हारा बिछुआ देखा था। चुपचाप पड़ा हुआ वह ऐसा लग रहा था मानों तुम्हारे चरणों से अलग हो जाने के दुःख से चुप हो गया हो—

सैषास्थली यत्र विचिन्वता त्वां
भ्रष्टं मयानूपुरमेकमुर्व्याम्
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्द—
विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्।

हे भीरु! रावण तुम्हें जिस मार्ग से ले गया था उस मार्ग की लताएँ मुझे कृपा करके तुम्हारे जाने का मार्ग बताना चाहती थीं। पर बोल न सकने के कारण उन्होंने अपनी पत्तोंवाली डालियाँ ही उधर झुका कर मुझे तुम्हारा पता बता दिया था—

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता
तं मार्गमेताः कृपया लता मे
आदर्शयन्वक्तुमशक्नुवन्त्यः
शाखाभिरावर्जित पल्लवाभिः।

और हरिणियों ने भी जब देखा कि मुझे तुम्हारे जाने के मार्ग का पता नहीं लग रहा है तब वे अपनी उठी हुई पलकोंवाली आँखें दक्षिण दिशा की ओर उठाकर मुझे मार्ग बताने लगी थीं—

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षाः
तवागतिज्ञं समबोधयन्माम्
व्यापारयन्त्यो दिशिदक्षिणस्या—
मुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि।

फिर यहाँ (माल्यवान पर्वत पर) वर्षा के कारण धरती से जो भाप निकली उससे कन्दलियों की कलियाँ खिल उठीं और वैसी ही लाल-लाल हो गईं जैसे

विवाह के समय का हवन का धुआँ लगने से तुम्हारी आँखें लाल हो गई थीं। अतः उन्हें देख कर तुम्हारा स्मरण हो आने से मैं बेचैन हो गया था—

आसारसिक्त क्षितिबाष्पयोगात्
मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते—
विवाहधूमारुण लोचनश्रीः।

तुम्हारे वियोग में मैं ऐसा पागल हो गया था कि एक दिन पयोधर के समान गुच्छों से झुकी इस पतली अशोकलता को मैंने यह समझ कर गले से लगाना चाहा था कि वह तुम्हीं हो। जैसे ही मैं उसे गले से लगाने चला वैसे ही मेरा यह पागलपन देखकर रोते हुए लक्ष्मण ने मुझे रोक लिया—

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं
स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम्
त्वत्प्राप्ति बुद्धया परिब्धुकामः
सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः।

देखो, पहाड़ की ढाल पर यह जो तमाल का वृक्ष दिखाई दे रहा है यह वही है जिसके प्रवाल के कर्णफूल बना कर मैंने तुम्हारे कानों में पहनाये थे और जो तुम्हारे जौ के अंकुर के समान पीले गालों पर लटकते हुए बड़े ही सुन्दर लगते थे—

अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः
प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य
यवांकुरा पाण्डुकपोलशोभी
मयावतंसः परिकल्पितस्ते।

राम और सीता के यह कहते-सुनते पुष्पक विमान अयोध्या आ पहुँचा। उनका स्वागत सभी ने हृदय से किया। सीता ने अपनी सासों के चरण छूते हुए कहा—मैं ही पति को कष्ट देने वाली कुलक्षण सीता हूँ—

क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं
सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्या-
वभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे।

तब सासों ने सीता को उठाते हुए बड़ी प्यारी और सच्ची बात कही—उठो बेटी! तुम्हारे ही पातिव्रत के प्रभाव से राम और लक्ष्मण इस बड़े भारी संकट को पार कर सके—

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ
वृत्तेन भर्त्ता शुचिना तवैव
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इतिप्रियार्हां
तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या।

इसके बाद राम का राज्याभिषेक हुआ और वे सीता के साथ सिंहासन पर बैठे और उनके भाई उनकी सेवा करने लगे।

यह सच है कि प्रजारञ्जन की इच्छा से और राजकुल की मर्यादा को बचाये रखने के लिए राम ने अपने हृदय को अत्यन्त कठोर बना कर सीता का त्याग किया और गर्भिणी की अवस्था में ही उन्हें महर्षि वाल्कीकि के आश्रम में भेज दिया। किन्तु सीता को छोड़ देने पर राजा राम ने केवल समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी का ही भोग किया, किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया—

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम्
बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम्

सीता के गर्भ से राम के दो पुत्र उत्पन्न हुए—लव और कुश। इन्हें सीता ने इस प्रकार जन्म दिया मानों पृथ्वी ने अपने राजा के लिए धन और सैन्य उत्पन्न किया हो—

सुतावसूत संपन्नौ कोशदण्डाविवक्षितिः।

जब वे दोनों थोड़े बड़े हुए तब उन्हें वाल्मीकि ने अपनी रचना रामायण का गान सिखाया। उससे वे दोनों बालक राम का यश गा-गाकर प्रायः अपनी माता का मन बहलाया करते—

रामस्य मधुरं वृत्तं गायन्तौ मातुरग्रतः
तद्वियोगव्यथां किञ्चिच्छिथिलीचक्रतुः सुतौ।

कुछ दिनों बार राम ने अश्वमेघ यज्ञ के लिए घोड़ा छोड़ा और उस यज्ञ में अपनी पत्नी के स्थान पर सीता की सोने की मूर्ति को ही बैठाया। उस यज्ञ में वाल्मीकि-रचित राम-कथा सुनाने के लिए लव-कुश आये। उस कथा को सुन कर सारी राजसभा गूँगी होकर आँसू बहाने लगी और ऐसा जान पड़ने लगा मानों वह सभा प्रातःकाल की वह शान्त वनस्थली हो जिसके वृक्षों से टपटप ओस की बूँदें गिर रही हों—

तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ
हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली।

तब यह जान कर कि यह रचना वाल्मीकि की है राम अपने भाइयों को लेकर उनके आश्रम में पहुँचे और अपने को छोड़ कर सारा राज्य उन्हें भेंट कर दिया—

ऊरी कृत्यात्मनो देहं राज्यमस्मैन्यवेदयत् ।

किन्तु वाल्मीकि राज्य लेकर करते ही क्या ? उन्होंने राम से आग्रह किया कि आप सीता को फिर स्वीकार कर लें। रामने कहा कि यदि सीता अपनी शुद्धता का विश्वास प्रजा के हृदय में उत्पन्न कर सकें तो मैं उन्हें आपकी आज्ञा से पुत्रों के साथ ग्रहण कर लूँगा। दूसरे दिन इस काम के लिए प्रजा भी इकट्ठी हुई और सीता और लव-कुश को लेकर वाल्मीकि भी आये। सीता को देखते ही सब लोगों ने उसी प्रकार अपनी आँखें नीची करलीं जैसे फले हुए धान के कलम झुक जाते हैं—तस्थुस्तेऽवाङ्मुखाः सर्वे फलिता इव शालयः। तब वाल्मीकि ने सीता से कहा—बेटी, जनता के मन में तुम्हारे चरित्र के विषय में जो सन्देह है उसे मिटा दो—कुरु निःसंशयं वत्से स्ववृत्ते लोकमित्यशात् ।

तब सीता ने कहा कि यदि मैंने मन, वचन, कर्म किसी प्रकार से भी अपना पातिव्रत कभी भंग न किया हो तो, हें धरती माता, तुम मुझे अपनी गोद में ले लो—

वाङ्मनः कर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे
तथा विश्वंभरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि ।

सीता का इतना कहना था कि धरती फटी और उसमें से भगवती पृथ्वी प्रकट हुईं। राम कहते ही रह गये—हैं ! हैं ! यह क्या करती हो ! यह क्या करती हो ! पर वे सबके देखते-देखते सीता को गोद में लेकर पाताल में समा गईं—

मामेति व्याहरत्येव तस्मिन् पातालमभ्यगात् ।

इसके कुछ दिनों बाद ही कुश को कुशवती का राज्य और लव को शरावती का राज्य देकर राम ने अपने भाइयों के साथ सशरीर परलोक-गमन किया।

कुश का विवाह समुद्र-वासी नागराज कुमुद की कन्या कुमुद्वती से हुआ। कुश इन्द्र की सहायता करते हुए एक देवासुर-संग्राम में वीर-गति को प्राप्त हुए। तब कुमुद्वती के गर्भ से उत्पन्न उनके पुत्र अतिथि अयोध्या के राजा बने।

अतिथि ने अत्यन्त कुशलता और सफलता से राज्य-संचालन किया। उनके पुत्र हुए निषध। निषध के पुत्र नल और नल के पुत्र नभ। इसके बाद इस वंश में उत्पन्न हुए क्रमशः पुण्डरीक, क्षेमधन्वा, दवानीक, शिल, उन्नाभ, वज्रनाभ,

शंखण, व्युषिताश्व, विश्वसह, हिरण्यनाभ, कौशल्य, पुष्य, ध्रुवसन्धि, सुदर्शन और अग्निवर्ण।

अग्निवर्ण अत्यन्त कामुक राजा थे। उनकी कामुकता इतनी प्रबल थी कि वे अपना सारा काम-काज छोड़ कर केवल काम-क्रीड़ा के लिए भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के वेश बनाया करते, जिसे देखकर ही मालूम हो जाय कि किस समय कौन-सी ऋतु है—

एवमिन्द्रिय सुखानिनिर्विशन्
अन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः
आत्मलक्षण निवेदितानृतून्
अत्यवाहयदनंग वाहितः।

फिर तो वही हुआ जो ऐसी स्थिति में हुआ करता है। अत्यधिक भोग-विलास के कारण अग्निवर्ण को क्षयरोग हो गया। उनके क्षयरोग के कारण इक्ष्वाकुवंश ऐसा रह गया जैसे एक कला भर बचे हुए कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की कला, या कीचड़ भर बचा हुआ गर्मी के दिनों का ताल, या तनिक-सी बची हुई दीपक की लौ —

व्योम पश्चिमकला स्थितेन्दुवा
पंकशेषमिव धर्मपल्लवम्
राज्ञि तत्कुलमभूत् क्षयातुरे
वामनार्चिरिव दीपभाजनम्

अन्ततः सन्तान का मुख देखे बिना ही राजा की मृत्यु हो गई। उस समय उनकी पटरानी गर्भवती थीं। वे ही बूढ़े मंत्रियों के कथनानुसार राज-काज चलाने लगीं। इसी स्थल पर रघुवंश समाप्त होता है।

एक दृष्टि से रघुवंश दुःखान्त महाकाव्य है। दूसरी दृष्टि से कवि की यह अन्तिम रचना उनकी कुछ प्रारम्भिक रचनाओं —विशेषतः ऋतु संहार—की एक आलोचना भी है। कवि में आत्मालोचन की यह वृत्ति कब और कैसे जगी होगी यह एक रोचक प्रश्न है।

कालिदास के सारे काव्य में भोग का वर्जन कहीं नहीं है। किन्तु जो भोग अभिज्ञानशाकुन्तल तक केवल इन्द्रियपरक है, वह कुमारसम्भव में लोकोपकारी और रघुवंश में तपोनिष्ठ बन गया है। और कवि के भोग-दर्शन में पहली मोड़ कहाँ आई होगी, इसके अनुमान की चेष्टा करते ही मेघदूत का ध्यान हो आता है। मेघदूत में कवि ने पहली बार बिजली को साथ लिये मानसरोवर की यात्रा पर

निकले हुए मेघ को निकट से ध्यानपूर्वक देखा है। यदि नर-नारी के सम्बन्धों को प्रमुखतः प्रेम और भोग की दृष्टि से देखनेवाले कवि को यहीं विशेषतः विवाह और तपस्या की दृष्टि से देखने की प्रेरणा मिली हो, तो यह कोई बड़ा आश्चर्य नहीं है।

कुमारसम्भव की रचना करते समय कालिदास की दृष्टि में मेघ और बिजली साक्षात् शिव और पार्वती बन जाते हैं। कैलास में देवताओं को अभयदान देते हुए शिव सोने की नई लता की तरह सुन्दर पार्वती को अपनी गोद में बैठाये हुए ऐसे दिखाई पड़ते हैं मानों चमकती हुई बिजलीवाला कोई शरद् का बादल हो—

सलीलमंकस्थितया गिरीन्द्र—
पुत्र्या नवाष्टा पदवल्लिभा सा
विराजमानं शरदभ्रखण्डं
परिस्फुरन्त्या चिररोचिषेव।

रघुवंश में अयोध्या से ऋषि वशिष्ठ के आश्रम में पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से रथ पर चढ़कर जाते हुए दिलीप और सुदक्षिणा का वर्णन करते समय भी कवि को मेघ और बिजली का स्मरण हो आता है। रथ पर बैठे हुए वे पति-पत्नी ऐसे जान पड़ते थे मानों वर्षा के बादल पर ऐरावत और बिजली दोनों चले जा रहे हों—

प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव।

यह देख कर जान पड़ता है कि जब मेघदूत के अन्त में यक्ष मेघ को अपनी यह शुभ-कामना अर्पित करता है कि कभी एक क्षण के लिए भी बिजली से तुम्हारा वियोग न हो—मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः—तब मानों कवि यह आश्वासन भी देते हैं कि यह शुभ-कामना ही आगे चलकर एक दिन शुभ-काव्य बनेगी।

और तब यह मानने की भी इच्छा होती है कि कुमारसम्भव और रघुवंश इसी आश्वासन की दो पूर्तियाँ हैं। इनके लिए कवि-पत्नी से कवि को कहाँ तक प्रेरणा मिली थी, यदि यह कवि से ही पूछा जाय तो उनका उत्तर सम्भवतः वही हो जो शिव ने पार्वती से विवाह करते समय दिया था—बिना पतिव्रता पत्नी से विवाह किये धार्मिक क्रियाएँ पूरी नहीं होतीं—

क्रियाणां खलु धर्म्याणां सपत्न्यो मूलकारणम्।

परिशिष्ट—ख

शब्दार्थ-तालिका

पृ० सं०	शब्द	अर्थ
१	ग्रीष्मार्त	गर्मी से पीड़ित।
,,		
,,	प्रेक्षा-गृह	उत्सव आदि देखने के लिए बैठने का कक्ष।
,,	शुभानने	मंगलमय मुखवाली।
,,	विस्मित-विलोचने	आश्चर्चित आँखोंवाली।
,,	कला-कलापिनि	कला के समूहों वाली।
२	विद्युद्विलासिनी	बिजली की चमकवाली
,,	तमिस्रा	अँधेरी रात।
,,	श्रवणगम्य	कानों तक जो आवाज पहुँच सके।
,,	कुहिरावृत	कुहासे से घिरा हुआ।
,,	प्रयास्य	चेष्टा करने लायक।
,,	प्रकाशाकांक्षी	प्रकाश की इच्छा करनेवाला।
,,	रहस्यावृत	रहस्य से घिरा हुआ।
,,	सृजन-वेदना	रचना का कष्ट।
४	अन्तर्द्वन्द्व	हृदय का संघर्ष।
,,	रसान्वेषिणी	रसको खोजनेवाली।
,,	प्रच्छन्न	छिपा हुआ।
,,	चिरद्वन्द्व	हमेशा का संघर्ष।
,,	मुक्त-मदन-मंदिर	अनियमित प्रेम का मंदिर।
,,	रस-धर्मा	रस ही जिसका धर्म हो।
,,	विभुतर	अधिक बड़ा।
,,	रसार्णव	रस-समुद्र।
५	चकित-हरिणी-प्रेक्षणी	डरी हुई हरिणी के समान आँखोंवाली।
,,	अविद्धमाल	पंक्तियों में बँधी हुई।
,,	बलाकावलि	बकुलों की पंक्ति।
६	नव-बिस-किसलय	नये कमल की डंठल।

११	वयस्य	मित्र।
,,	सृजन-कौतुक	रचना का खेल।
,,	क्षण-क्षणोद्दीप्त	क्षण-क्षण में प्रकाशित।
,,	विद्युद्दाह-प्रवाह	बिजली की जलन की धारा।
,,	उत्तप्त	अधिक गरम।
,,	धूम ज्योतिः-सलिल-मरुत	धुआँ, आग, पानी और हवा।
,,	सन्निपात	संयोग।
,,	मानव-अमरत्व-कामना	मनुष्य की हमेशा जिन्दा रहने की इच्छा।
,,	चिराहूत	हमेशा का बुलाया हुआ।
,,	चिर-वन्दित	हमेशा से पूजित।
१२	उपालम्भ	उलाहना।
,,	किसलय	कोमल पत्ता।
,,	विपथ-गामिनी	बुरे रास्ते पर चलनेवाली।
,,	स्वकीया	अपनी स्त्री।
,,	परकीया	दूसरे की स्त्री।
,,	काव्य-प्रिया	काव्य की नायिका।
,,	नीति-भीति-भंजन	नीति के भय का खण्डन।
१३	भर्त्सना	निन्दा।
,,	युगल कृत्य	दोनों कार्य।
,,	पुष्कर-आवर्तक	दो विख्यात मेघ।
,,	विद्युत्पति	बिजली का स्वामी।
१५	अनृत	झूठा।
,,	साश्रु	आँसुओं के साथ।
१६	वासना-सिक्त	सांसारिक इच्छाओं से भरा हुआ।
१७	गवाक्ष-रंध्र	खिड़की के छेद।
,,	स्पर्धा	साहस।
,,	कर्दम	कीचड़।
१८	कामानल	काम की अग्नि।
,,	अग-जग	चल-अचल संसार।
,,	उद्दीपन	जगानेवाला।
,,	परकीया-प्रलोभ	दूसरे की स्त्री का लोभ।
१९	हास-विभासित	हँसी से प्रकाशित।
,,	अम्बर-विहार	आकाश में विचरण।

,,	विश्वम्भर	संसार को भरनेवाला ।
,,	वसुधा-उपकार-निरत	पृथ्वी के उपकार में लगा हुआ ।
२०	सभ्रूभंग	भौंहों के संचालन से युक्त ।
,,	चलोर्मि	चंचल तरंगोंवाला ।
,,	ज्ञातास्वाद	स्वाद जाननेवाला ।
,,	विवृतजघना	खुली हुई जाँघोंवाली ।
२१	सौन्दर्यामृत	सुन्दरता का अमृत ।
,,	शास्ति-रसायन	दंडरूपी औषधि ।
,,	कान्ता-मुख-वर्षित	पत्नी के मुख से बरसा हुआ ।
२२	कर्तव्योपदेश-पीयूष	कर्तव्य के उपदेश का अमृत ।
२३	नारी-स्मित-विमुग्ध	स्त्री के मुस्कान पर लुभाया हुआ ।
,,	भार्या-भ्रुकुटि-भीत	पत्नीके भौंहों के टेढ़ेपन से डरा हुआ ।
,,	भार्या-भारवाह	पत्नी के भार को ढोने वाला ।
,,	नारी-विधि-निषेध-अंकुश-चालित	स्त्री की आज्ञारूपी अंकुश से चलाया हुआ ।
,,	पालित गयंद-गरिमा	पाले हुए हाथी का गौरव ।
२३	परकीया-लिप्सा	दूसरे की स्त्री को पाने की इच्छा ।
२४	मुक्त प्रणय की सतत कामना	स्वच्छन्द प्रेम की लगातार चिंता ।
,,	अतार्किक	तर्क से परे ।
२६	मेघोचित	मेघ के लिए उचित ।
,,	अनावृत	खुला हुआ ।
,,	प्रणय-पराक्रम-पूत	प्रेम की वीरता से पवित्र ।
,,	मूर्त महत् को कर	महान को प्रत्यक्ष कर ।
,,	भरत-वाक्य	नाटक के अन्त में लिखा हुआ मांगलिक वचन ।
३३	अनवरत अश्रुवर्षी	हमेशा आँसू बरसानेवाला ।
,,	प्रणय-कुपिता	प्रेम में क्रोधिता ।
,,	छद्म	छिपावट ।
,,	पुष्करिणी	तलैया ।
,,	आत्म-प्रवञ्चिका	अपने को ठगनेवाली ।
,,	प्रतिहारिणी	राजकुल में सूचना देनेवाली दासी ।
३८	वारुणी	शराब ।
३९	प्रवञ्चित	ठगा हुआ ।

,,	अतिशयोक्ति	जो बात बढ़ाचढ़ा कर कही जाय।
४२	संगीत-बद्ध ऋचा	संगीत के लय में बंधा हुआ वेद का छंद।
४४	न भेतव्यम न भेतव्यम्	मत डरो, मत डरो।
,,	शिशिर-मथिता	पाले की मारी हुई।
,,	अमूर्त नारीत्व	विना आकार का स्त्रीत्व।
,,	मुकुलित	खिला हुआ।
,,	गुञ्जित निर्वाध प्रणाय	गुञ्जार करता हुआ बाधारहित प्रेम।
५८	रोमाञ्चक स्मृति	आनन्द देनेवाली यादगार
५९	स्निग्ध रोष	स्नेह से भरा क्रोध।
,,	मूर्त सजीव प्रतिमा	प्रत्यक्ष सजीव मूर्ति।
,,	अथ से इति तक	आदि से अन्त तक।
६२	विलास-विकला	विलास से बेचैन।
,,	परिणीता	विवाहिता।
,,	विलास-पिपासा	भोग की प्यास।
,,	नारी-यौवन-मदिरा-पात्र-मात्र-सी	स्त्री की तरुणाई-रूपी शराब के बर्तन की तरह।
,,	शास्त्र-विहित विलास	शास्त्रों के अनुकूल भोग।
,,	विलासवञ्चित	भोग से ठगा हुआ।
६३	प्रवञ्चक परिणय	ठगनेवाला विवाह।
,,	कलुषित व्यवधान	घृणित रुकावट।
६४	अनपेक्षित	जिसकी आशा न हो।
,,	नव-नारी-भोग -बुभुक्षा	नई-नई स्त्रियों के भोग की इच्छा।
,,	काव्य-परिपूर्ति	कविताके रूपमें जिसकी पूर्ति हुई हो।
६५	प्रौढ़-प्रगाढ़-प्रेम	प्रौढ़ावस्था का प्रबल प्रेम।
,,	अनुभवी रसिकता	अनुभव से भरा हुआ रसीला स्वभाव
,,	अरसज्ञा	रस को नहीं समझनेवाली।
६६	प्रणय-परिमूढ़	प्रेम में पागल।
,,	असंतोष झंझा	असंतोष की आँधी।
७१	अव्याज मनोहर	प्रपंचरहित सौन्दर्य।
,,	अनिंद्य	जिसकी निन्दा न की जा सके।

,,	शैवल से अनुविद्ध कमलिनी-सी	सेवार से घिरे हुए कमल की तरह।
,,	उपालम्भ	उलाहना।
,,	नारी-रत्न-सृष्टि	स्त्री रूपी रत्न की रचना।
,,	अनाघ्रात कलिका	जो सूँघी न गई हो ऐसी कली।
,,	रत्न आविद्ध	छिदा हुआ रत्न।
,,	अनास्वादित रस	जो चखा न गया हो ऐसा रस।
७३	अबोध सौन्दर्य	भोली सुन्दरता।
,,	अलस	आलस्य से भरा।
,,	रति-चिन्तन का आमन्त्रण	सांसारिक भोग का निमंत्रण।
,,	विलासान्ध	भोग से अन्धा बना हुआ
,,	गान्धर्व-भोग	गुरुजन और समाज की अनुमति के बिना किया गया भोग।
,,	अस्पृष्ट	जो छुआ न गया हो।
७४	सुर-युवति-सम्भवे	अप्सरा से उत्पन्न स्त्री।
७५	सुलभा नारी	सहज रूपसे प्राप्त स्त्री।
,,	रस-भंजन	रस-भंग।
,,	वर्जित संकेत	मना की गई चेष्टाएँ।
,,	अपावन कामानल	अपवित्र काम की अग्नि।
,,	कौमार्य-कुसुम	क्वाँरापन रूपी फूल।
,,	मदान्ध-मूढ-यौवन	मद से अन्धी विचाररहित युवावस्था।
,,	जिज्ञासा	जानने की इच्छा।
,,	निष्ठा	आस्था।
,,	करील	एक प्रकार का काँटा।
८२	प्रेयस्	प्रिय।
,,	श्रेयस्	कल्याणकर।
,,	प्रज्ञा	बुद्धि।
८३	विधाओं	शैलियाँ।
,,	आर्ष काव्य	ऋषियों द्वारा लिखे गए काव्य-ग्रन्थ।
,,	उद्बोधन	जगाना।
८९	उशीर	खस।
,,	मृणाल-वलय	कमल-नाल के कंगन।
९०	उत्कर्ष	ऊँचाई।
	मनस्ताप	मन की पीड़ा।

९६	आश्वस्त	आश्वासन पाया हुआ।
,,	पाथेय	रास्ते का भोजन।
१०१	व्यजन	पंखा।
,,	वातायन	खिड़की।
,,	चीनांशुक	रेशमी कपड़ा।
,,	कनिष्ठिका	कानी अँगुली।
,,	अनामिका	कानी अँगुली की बगल वाली अंगुली।
,,	आपरितोषाद्विदुषां	जब तक विद्वानों को संतोष न हो।
,,	न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्	तब तक रचना की सफलता नहीं मानी जानी चाहिए।
,,	काव्यांकण	काव्य का मूल्य।
,,	विद्वत्-परितोष	विद्वानों को संतोष।
,,	कलाविद्	कलाकार।
,,	कुल्याएं	नहरें।

'मेघदूत'